

राम ध्वनि - १

नीरव का रव

आचार्य श्री रामलाल जी म.सा.

प्रकाशक
साधुमार्गी पब्लिकेशन
अन्तर्गत - श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

प्रकाशक :

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अन्तर्गत - श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

प्राप्ति स्थान :

1) श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ,

प्रधान कार्यालय : 'समता भवन', आचार्य श्री नानेश मार्ग,

नोखा रोड, गंगाशहर, बीकानेर - 334401 (राजस्थान)

फोन : 051-2270261-62, 2270359

Visit us : www.sadhumargi.com

2) आचार्य श्री नानेश ध्यान केन्द्र

राणाप्रताप नगर, पद्मिनी मार्ग, सुन्दरवास,

उदयपुर - 313002 (राजस्थान)

फोन : 0294-2490717, 2490306 (फैक्स)

E-mail : asndkudaipur@gmail.com

आवृत्ति : **प्रथम 2017**

ISBN No. : 978-81-933313-9-2

मूल्य : **₹. 100**

मुद्रक :

ग्राफिक प्रिंटर्स, 12-15 शिंपोली मार्केट,

कस्तुरपार्क गणेश मंदिर के सामने,

शिंपोली, बोरिवली (प.), मुंबई - 400 092

प्रकाशकीय

एक प्रकृति पुरुष, जिसके जीवन की समस्त दैनिक क्रियाएं लक्ष्य की ओर सतत् गतिशील हैं, एक ऐसा महामानव जिसके व्यवहार में आगमिक सूत्रों का सार निहित है। एक ऐसा दिव्य पुरुष जो इस कलिकाल की भौतिकतावादी चकाचौंध में भी सतयुग के भव्य प्राणियों की भांति अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सिद्धांतों पर अटल है। यदि हमें ऐसी महान् आत्मा के साथ एकान्त-साक्षात्कार का सुन्दर अवसर प्राप्त हो जाए तो उस क्षण के आनंद का कहना ही क्या।

यदि आपको जीवन में एक बार भी हुक्मगच्छ के नवमे पाट पर सुशोभित नानेश पट्टधर, परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर १००८ श्री रामलाल जी म. सा. के निकटता से दर्शन करने का सौभाग्य मिला हो, तो निश्चित रूप से आपने देखा होगा कि आचार्य भगवन सैंकड़ों लोगों की भीड़ के बीच भी अपनी आत्म-रमणता की स्थिति को बनाए रखते हैं। अपने आपको स्वाध्याय, लेखन, आत्म-चिंतन-मनन में व्यस्त रखकर, अपना समय केवल आत्म विश्लेषण को देते हैं। उसी चिंतन-मनन के मंथन से निकलता है विचारामृत। उसी गहन मंथन से समाज को व्यसनमुक्ति का संदेश, गुणोत्कीर्तन जैसी विचारधारा, उत्क्रांति जैसी सामाजिक व्यवस्था आशीर्वाद स्वरूप प्राप्त हुई। आखिर हम भी जानें उन महत्त्वपूर्ण लम्हों को, जिन लम्हो में आप श्री ने आत्म साक्षात्कार की स्थिति में अमूल्य विचारधाराओं का सूत्रपात किया।

पूज्य आचार्य श्री के विचारों की गहराई से निकलने वाले वे अनमोल

चिंतन और उनकी लेखनी विचारों के मुमुक्षु भाव का सर्वांगीण दिग्दर्शन कराती है। ये मात्र विचार ही नहीं हैं अपितु आत्मा के समीक्षण से निकले अमूल्य सूत्र हैं। जिनका वे न केवल उपदेश देते हैं अपितु स्वयं के जीवन में भी अक्षरशः पालन करते हैं। आप श्री के उपदेश बहुत ही सरल और प्रभावी हैं, जो कि हमारे जीवन के हर पहलू को स्पर्श करते हैं।

संघ अपना दायित्व मानते हुए आप सभी को उस दिव्य आत्मा के दुर्लभ विचारों से लाभान्वित कराना चाहता है। इसी उद्देश्य से इस पुस्तक के माध्यम से उन अनमोल मणि-मुक्ताओं का संग्रह पाठकों को उपलब्ध कराया जा रहा है। इसीलिए आपके हाथों में विराजमान है, एक महामानव के अद्भूत विचारों का संकलन -

veerjJe keÀe jJe

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ



संघ के प्रति अहोभाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा हेतु सतत् प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छाँव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक 'निरव का रव' के माध्यम से संघ सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आप को सौभाग्यशाली समझता है। अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हम सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

अर्थ सहयोगी :

सरदारमल सुभाषचन्द्र कांकरिया परिवार
कोलकाता

॥ सेवा है यज्ञकुण्ड समिधा सम हम जलें॥

अनुक्रमणिका

- | | |
|--------------------------------------|------------------------------------|
| १. कामनाओं पर विजय प्राप्त करे | २५. किस शरीर की सुरक्षा ? |
| २. अतुल उत्साह : दृढ़ मनोबल | २६. सहारा बेसहारा |
| ३. एकाग्रता | २७. शरीर-यंत्र |
| ५. सोना और सुहागा | २८. त्रिलोकी नाथ |
| ६. सफलता का बीजमंत्र | २९. स्वर्ण से कुन्दन |
| ७. उत्साह का संचार | ३०. तत्काल निर्णय ? |
| ८. समस्याओं से घबराहट कायरता को आहट | ३१. तीन बातें काम की |
| ९. सामाजिक एकात्मता | ३२. वन्दना |
| १०. साध्य निर्धारण | ३३. महत्त्व का क्षण |
| ११. समय का मूल्य | ३४. वृत्तियों का ताण्डव नृत्य |
| १२. जीवन के सत्य | ३५. दो बिन्दु चिन्तन के |
| १३. समभाव | ३६. आत्मज्योति प्रकट करने का उपाय |
| १४. तत्त्व निर्णायिका बुद्धि | ३७. एक अवनत, दूसरा उन्नत |
| १५. उदासीनता के दो रूप | ३८. जहा अंतो, तहा बाहिं |
| १६. पकड़ छोड़े | ३९. स्वयं को उपशमित करें |
| १७. समर्पणा का आनन्द | ४०. शक्ति केन्द्रों का उपयोग |
| १८. प्रवाह-पाती मत बनो | ४१. जीवन की भोर |
| १९. चारों तीर्थ कर्तव्य में सजग हों | ४२. जीवन की समग्रता का ज्ञान |
| २०. संगठन की जीवन्तता के पाँच सूत्र | ४३. ऊर्जा का प्रवाह |
| २१. अद्वितीय शक्ति का हेतु | ४४. स्वभाव-विभाव और चारित्र चक्र |
| २२. विश्व को महान् देन देने का गुर | ४५. प्रकटित ज्ञान और संगृहीत ज्ञान |
| २३. चाह और पात्रता | ४६. एक्युप्रेशर पद्धति के सूत्र |
| २३. चाह और पात्रता | ४७. स्वयं की तुलना करो |
| २४. पहचानें स्वभाव को हटायें तनाव को | ४८. तूफान के क्षण |
| | ४९. आग में घी की आहुति |

अनुक्रमणिका

- | | |
|--------------------------------|---|
| ५०. 'स्वस्थ' होना आवश्यक | ७६. मन वचन काय कुंजी |
| ५१. बाहर की रौनक | ७७. महत्त्वाकांक्षा |
| ५२. शिष्य के दो रूप | ७८. स्मरणीय से तादात्म्य |
| ५३. दर्शन और व्यवहार का समन्वय | ७९. कर्तव्य के प्रति निष्ठा |
| ५४. तिजोरी की चाबियाँ | ८०. संघीय मर्यादाओं का उल्लंघन
हितावह नहीं |
| ५५. मैं तो ज्ञानी हूँ | ८१. तटस्थ व सहज चिन्तन से हल |
| ५६. समय सीमित है | ८२. शासन हित सर्वोपरि |
| ५७. नियन्ता की अपेक्षा | ८३. "स्वाध्याय": अध्यात्म की आत्मा |
| ५८. स्नेह सरिता का प्रवाह | ८४. निपुणता से कार्य सम्पादन का
अवसर दें |
| ५९. आचार्य का कर्तव्य | ८५. निराकुलता साधना का मर्म |
| ६०. स्विच ऑन ही न हो | ८६. अहंकार में अन्वेषण |
| ६१. अहिंसा का सकारात्मक रूप | ८७. अहं का अर्थ गाम्भीर्य |
| ६२. संघ संचालन की रुपरेखा | ८८. धर्म का फल: भविष्य में या अभी? |
| ६३. वार्धक्य का कारण | ८९. अनुभूति |
| ६४. उछल-कूद छोड़े. | ९०. आकांक्षा रहित साधना तेजस्वी |
| ६५. आकाश में उड़ने का तरीका | ९१. आगम अध्ययन संविधा |
| ६६. बड़ा रहना चाहे तो | ९२. मूल मनोवृत्ति पर विजय |
| ६७. वात्सल्य सापेक्ष है | ९३. आत्मिक आनन्द का सूत्र |
| ६८. दिव्य नेत्र हों | ९४. अनुभूति रहित अभिनय |
| ६९. दोष दूर हो जाएगा | ९५. शब्द चयन का कौशल |
| ७०. प्रवाह - पात | ९६. 'ऊर्ध्वारोहण' |
| ७१. गंगा को आगे बढ़ावें | ९७. 'उपदेश' आचरण से |
| ७२. साधना का उल्लास | ९८. जैसी सामग्री वैसा निर्माण |
| ७३. पढ़े ही नहीं पाले भी | ९९. सारल्य में सद्गुणों का प्रस्फुटन |
| ७४. प्रकृति का रहस्यमय प्रयोग | १००. कथ्य के त्रिरत्न |
| ७५. रक्षात्मक भाव के प्रतीक | |

अनुक्रमणिका

- | | |
|--|-----------------------------------|
| १०१. 'स्मृति' | १२६. ज्ञान अन्तर से प्रकट हो |
| १०२. दान या दौं | १२७. छोड़ना ही छोड़ना |
| १०३. प्रवाहपाती अवस्था | १२८. लेने के लिए न कि देने के लिए |
| १०४. स्व में स्व का प्रवेश | १२९. जैसा नक्शा: वैसा मकान |
| १०५. नमन की भावधारा कैसी ? | १३०. ताप दूर हो जाय |
| १०६. प्रतिज्ञा कवच | १३१. स्वर्ण के कड़े |
| १०७. हवाला भीतरी भी | १३२. अहिंसा आदि का आन्तरिक भाव |
| १०८. अभयदान स्वसापेक्ष | १३३. साज संगीत नहीं |
| १०९. अलविदा | १३४. जीवन में उतरे वही मेरा |
| ११०. छोटी सी त्रुटि | १३५. प्रामाणिक वचन |
| १११. संवर : आत्म सम्पदा का ताला | १३६. महावीर का मार्ग बगावत का |
| ११२. 'प्रमाद' थोड़ा भी नहीं | १३७. साधु से परिचय |
| ११३. नरक-स्वर्ग कहाँ ? | १३८. सेम्पल से माल की पहचान |
| ११४. दर्शन सप्तक में चारित्रमोह ? | १३९. कर्तव्य और जवाबदेही |
| ११५. इहलोक भय-परलोक भय | १४०. बड़ा कल्प |
| ११६. दान का स्वरूप | १४१. उत्तरीकरण |
| ११७. प्रतिज्ञा रुपी सड़क | १४२. अवैर का अनहद नाद |
| ११८. विवेक - प्रज्ञा | १४३. सुन्दर-क्षण |
| ११९. बाजार की मिठाई | १४४. नामी बनें |
| १२०. अज्ञान- मोह और रागद्वेष का
अन्तर रहस्य | १४५. चित्त नदी पर बाँध |
| १२१. धृति की महत्ता | १४६. त्रिभुवन स्वामी |
| १२२. 'चढ़ाई' नहीं , गहराई' | १४७. घन नामी |
| १२३. नमन से निर्वाण | १४८. परनामी कौन ? |
| १२४. नेताओं का आचरण | १४९. नमाएं किसे ? |
| १२५. उज्जयिनी का रूप | १५०. कृष्ण-पक्ष शुक्ल-पक्ष |
| | १५१. कृष्ण पक्ष |

अनुक्रमणिका

- | | |
|-------------------------------------|------------------------------------|
| १५२. शुक्ल पक्ष | १७८. पीछे मत देखो |
| १५३. 'तीन प्रकार के शिष्य' | १७९. जाति का तिरस्कार असह्य |
| १५४. दौड़ कैसे रुके | १८०. दुःख से बचाव |
| १५५. श्रुत का मीठा पानी | १८१. निःस्वार्थ भाव |
| १५६. अनादि की दौड़ | १८२. श्रुत-समाधि |
| १५७. चारित्र के लिए ज्ञान | १८३. विनाश के कगार पर |
| १५८. एक और अनेक | १८४. परतों में छिपी आत्मा |
| १५९. साधन का समुचित उपयोग | १८५. घातक-कुण्ठा |
| १६०. गुरु चरणाश्रय | १८६. स्वर्णिम वेला |
| १६१. मकड़ जाल | १८७. विषाद में स्वाद? |
| १६२. उपवास | १८८. कर्तव्य के प्रति जागरूक |
| १६३. अनन्त का उपकार | १८९. परिणमन में परिवर्तन |
| १६४. फ्यूज सही हो | १९०. निषेध ही नहीं विधेय भी |
| १६५. विद्या विनिमय से | १९१. धर्म शुभ या अशुभ |
| १६६. "आइन्हेसु अहियं पयासयरा " | १९२. चादर घिसे नहीं |
| १६७. शान्ति की खोज | १९३. पकड़ रूपी फोड़ा |
| १६८. प्राण किसके अटके ? | १९४. चौकन्नी-अवस्था |
| १६९. बुद्धि की धृष्टता | १९५. जैन धर्म का कथन |
| १७०. अपने हक की रोटी | १९६. मानव तन का उपयोग |
| १७१. विकथा का दौरा | १९७. आसुरी वृत्तियाँ रूप रावण |
| १७२. साधना का सोपान-शोधन | १९८. असली रूप ओझल है |
| १७३. चेप पैदा नहीं हो | १९९. श्रद्धा का तोल |
| १७४. अमृत सिद्धि योग | २००. समाधि का आह्लाद |
| १७५. प्रवृत्ति-निवृत्ति की उपादेयता | २०१. प्रवाह.. प्रवाह... प्रवाह.... |
| १७६. धर्म घर है | २०२. भयमुक्ति बनाम भय-अस्पर्श |
| १७७. स्पन्दन नहीं होने दें | २०३. श्लेष |

अनुक्रमणिका

- | | |
|-------------------------------------|--|
| २०४. कामण हवा | २२९. चातुर्मासिक मर्यादा की पृष्ठभूमि |
| २०५. 'संकेत' | २३०. विशेष हार |
| २०६. अन्तर में जागृत रहो | २३१. उतरा है या नहीं |
| २०७. निशान्त-प्रतीक और अर्जित | २३२. धर्म की मखौल |
| २०८. "आचार्य श्री गलहार हैं।" | २३३. संस्कारित जीवन |
| २०९. पूँजी का मूल | २३४. सच्चा संदेश |
| २१०. भोजन-विवेक | २३५. मृगमरीचिका |
| २११. योग निद्रा में प्रवेश | २३६. विचारों की भाप |
| २१२. तूफान | २३७. अणु की शक्ति |
| २१३. अन्तर की आवाज | २३८. आत्म सुरक्षा का पथ्य |
| २१४. कदम बढ़ाते चल | २३९. लोकैषणा (प्रशंसा प्राप्त करने की इच्छा) |
| २१५. साधक! | २४०. स्वार्थी का अन्तर्भाव |
| २१६. हलचल | २४१. अनुभव निःशब्द होता है। |
| २१७. मान-अपमान | २४२. अशान्ति का मूल |
| २१८. धार्मिक व्यक्ति को कष्ट क्यों? | २४३. सुख और दुःख |
| २१९. स्वाध्याय से निर्विष | २४४. आत्मवीर |
| २२०. संयोग - वियोग | २४५. चाहत करे आहत |
| २२१. आग में घी | २४६. स्वभावगत स्थिति |
| २२२. स्वार्थी | २४७. चाबी भरो तो चले |
| २२३. पद से निरपेक्ष भाव | २४८. पूछ के पीछे फिसलन |
| २२४. दो आत्मिक गुण | २४९. शान्त सुधारस वर्षक |
| २२५. विश्वास में ही विश्वासघात | २५०. जीवन के लिए घातक |
| २२६. शीतल बयार | २५१. अध्यवसाय रूपी फिटकरी |
| २२७. उपदेश से कठिन है आचरण | २५२. भावना |
| २२८. सदा सावधान | |

१. कामनाओं पर विजय प्राप्त करें

स्वभाव से ही मानव अनेक कामनाएं करता रहता है। वे कामनाएँ पूर्ण होने पर उसे संतुष्टी हो जाय, यह बात नहीं है। कामनाएँ पुनः-पुनः जागृत होती रहती हैं। जो कामनाएँ तीव्र इच्छा शक्ति से जागृत होती हैं उनकी यदि कदाचित् पूर्ति नहीं होती है तो उस समय मानव के मानस तन्त्र का असन्तुलित हो जाना अधिकतर सम्भवित है। बहुत कम व्यक्ति उस परिस्थिति में अपने आपको संभाल पाते हैं। कामनाओं से प्रताड़ित वह मानस क्या कुछ कर सकता है? उसका अनुमान भी लगा पाना कठिन हो जाता है। अतः कामनाओं को जागृत करने की बजाय उस पर विजय प्राप्त करना चाहिए। इस सन्दर्भ में गीता का यह वचन स्मरणीय है-

“न जातु कामः काम्यानां उपभोगेन शाक्यति”

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

२. अतुल उत्साह : दृढ़ मनोबल

साधना के सम्यग् भाव हेतु अतुल उत्साह की आवश्यकता है और वह उत्साह प्राप्त होता है दृढ़ मनोबल से।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

३. एकाग्रता

मानसिक क्षमता का प्रभाव शरीर तंत्र पर अवश्य पड़ता है। मन यदि एकाग्र है तो शरीर-काया से एकाग्रता सहज सिद्ध हो सकती है।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

४. शान्त करें आवेग को

नदी के नहीं चाहते हुए भी उसमें तूफानी उफान आ जाता है किन्तु जो नदी गम्भीर होती है, गहरी होती है, वह प्रलय का रूप धारण नहीं करती। वह उस तूफान को अपने भीतर समाहित कर लेती है। इसी तरह जीवन के रहस्य को

जानने वाला अपने आवेगों को/ तूफानों को बाहर झलकने नहीं देता और न ही बाह्य क्षेत्र में प्रलय मचाता है बल्कि अपने अन्तर में ही वह उन आवेगों/तूफानों को समाहित कर स्वयं, शान्त भाव का अवलम्बन लेता है और समाज में रहते हुए भी अपने जीवन को अकम्प व उदात्त बनाए रखता है।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

५. सोना और सुहागा

युवकों के उत्साह में बुजुर्गों का मार्गदर्शन तथा अनुभव मिल जाय तो प्रत्येक कार्य “सोना में सुगन्ध” वाली कहावत चरितार्थ करता है और यह सब सम्भव है आत्मीयता के आधार पर।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

६. सफलता का बीजमंत्र

अच्छे कार्यों के प्रति सदा उत्साह रखना चाहिये। उत्साह के साथ-साथ विवक्षित कार्य के प्रति उतना समर्पित भी रहना चाहिये। जिस कार्य में हम सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, उस कार्य के लिए मनसा-वाचा-कर्मणा सक्रिय हो जाना चाहिये।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

७. उत्साह का संचार

व्यक्ति को जीवन में कभी हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। निराशा, हताशा जीवन को तहस-नहस कर देती है। हतोत्साहित व्यक्ति जीवन की ऊंचाइयां प्राप्त नहीं कर सकता। जीवन की समग्रता को प्राप्त करना है तो निराशा को सदा के लिए तिलांजलि देना आवश्यक है। साथ ही जीवन में उत्साह का संचार होना भी अनिवार्य है।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

८. समस्याओं से घबराहट कायरता को आहट

समस्याओं से घबराना यह व्यक्ति की कमजोरी, कायरता का द्योतक है। समस्याओं से जूझना यह जीवन्त जीवन का सूचक है। जो भी समस्याएं, आपदाएं आती हैं, वे नया ज्ञान देने के लिए आती हैं, ऐसा मानकर मानव को धैर्यपूर्वक समस्याओं का सार निकाल कर उन्हें निस्सार कर देना चाहिए।

जिस मानव के जीवन में समस्याओं का, आपदाओं का तूफान नहीं आया, वह उनसे प्राप्त होने वाली शिक्षा व अनुभव से प्रायः वंचित रह जाता है। अतः समस्या को भी जीवन विकास का एक अंग मानना चाहिए।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

९. सामाजिक एकात्मता

शरीर के किसी एक भाग में कांटा चुभ जाय तो सारा शरीर प्रभावित होता है, उसी प्रकार, समाज के किसी एक भाग को चोट पहुँचे तो सामाजिक प्राणी को अवश्य दुःख-दर्द होगा।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

१०. साध्य निर्धारण

साध्य का निर्धारण साधना से पूर्व होना आवश्यक है। साध्य का निर्धारण हुए बिना साधना की भी कैसे जा सकती है। अर्थात् साध्य-विहीन साधना तेली के बैल की तरह केवल भटकाव रूप व्यर्थ श्रम ही सिद्ध हो सकती है। इसलिए साधक को साधना में गति करने के पूर्व अपना लक्ष्य अवश्य निर्धारित कर लेना चाहिए।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

११. समय का मूल्य

जागरण एवं साधना के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति समय को साधे। समय के पाबन्द व्यक्ति को साधना में विशिष्ट संकेत मिल सकते हैं। समय का पाबन्द व्यक्ति स्वल्प समय में अधिक काम कर सकता है। समय के मूल्य को समझने वाले की प्रज्ञा निर्मल एवं बुद्धि तीक्ष्ण हो सकती है।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

१२. जीवन के सत्य

अहंकार और ममकार की भावना को नष्ट किये बिना जीवन के सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

१३. समभाव

मन का भेदन करने वाले कटु वचनों को सुनकर भी समभाव बनाये रखना जीवन उन्नति का मार्ग है। ऐसे पथ का पथिक समता के सर्वोच्च शिखर पर उस हद तक पहुँच जाता है जिसकी उसे स्वयं कभी कल्पना भी नहीं होती।

युवाचार्य विशेषांक से उद्धृत

१४. तत्त्व निर्णायिका बुद्धि

२२ अप्रैल १९९२, भीनासर

तत्त्व निर्णय में केवल तार्किक बुद्धि समर्थ नहीं है। बुद्धि की तर्क शक्ति से तत्त्व का खण्ड-खण्ड तो किया जा सकता है, किन्तु यथार्थ निर्णय नहीं। यदि उस बुद्धि को श्रद्धा व समर्पणा का संयोग प्राप्त हो जाए तो वह चमत्कारिक रूप से अपना फल प्रदान करती है। जैसे-कैंची कपड़े को खण्ड-खण्ड कर सकती है किन्तु पहनने योग्य वस्त्र निर्माण उसके वस में नहीं है यदि उसके साथ सुई का संयोग प्राप्त हो जाता है तो खण्ड-खण्ड हो चुका वस्त्र भी परिधान का रूप प्राप्त कर उपयोगी बन जाता है। ठीक उसी तरह श्रद्धा व समर्पणा से संयुक्त बुद्धि तत्त्व -निर्णय में उपयोगी होती है।

१५. उदासीनता के दो रूप

२३ अप्रैल १९९२, भीनासर

उदासीनता का अर्थ कभी-कभी निराशा मान लिया जाता है, किन्तु उदासीनता एकान्ततः निराशा का स्वरूप नहीं है। जीवन में उदासीनता घातक है तो साधक भी है। एक उदासीनता जीवन का हास कर देती है, उसे नीरस बना देती है किन्तु दूसरे प्रकार की उदासीनता जीवन उन्नायक होती है और जीवन में रस भरने वाली होती है।

पहले प्रकार की उदासीनता में निराशा की छाया होती है उससे जीवन मुरझा जाता है। दूसरे प्रकार की उदासीनता आध्यात्मिक पुरुषों की भौतिक पदार्थों के प्रति होती है, जो जीवन का सार प्राप्त कराने वाली होती है।

१६. पकड़ छोड़े

२६ अप्रैल, १९९२, पलाना

जीवन को परिवर्तित करने के लिए 'पकड़' को छोड़ना आवश्यक होता है। व्यक्ति अपनी पकड़ को इतनी गहरी कर लेता है कि वह ग्रंथि का रूप ग्रहण कर लेती है। ग्रंथि का तात्पर्य है – उन संस्कारों का स्थायी भाव। जिससे व्यक्ति स्वयं व्यथित होता है तथा अन्यो को भी व्यथित करता है। वह स्वयं से असंतुष्ट रहने लगता है। वह स्वयं में रिक्तता का अनुभव करता रहता है। वह हताशा, निराशा के झूले में झूलता रहता है। अतः स्वयं को रूपान्तरित करने के इच्छुक मुमुक्षुओं को चाहिए कि काम, क्रोध, अहंकार आदि से जन्मी पकड़ को स्वयं में स्थायी न रहने दें। इसके लिए तामसिक वृत्तियों का विसर्जन करते हुए स्वच्छ विचारों से स्वयं को भावित करना चाहिए।

१७. समर्पणा का आनन्द

२७ अप्रैल, १९९२, देशनोक

“समर्पणा दुरुह है।” ज्ञानीजनों का कथन है कि श्वासोच्छ्वास व नेत्र की पलक झपकाना शिष्य के स्वाधीन है, अन्य समग्र क्रियाएँ गुरु आज्ञा/निर्देश पर निर्धारित हैं। ऐसी समर्पण भावना विरल ही प्राप्त हो सकती है। समर्पणा की

अभिव्यक्ति करना एक बात है और आज कल अधिकांशतः ऐसी ही स्थिति दृष्टिगत होती है किन्तु वास्तविक समर्पणा “तुझ में मुझ में भेद न पाऊँ” रूप होती है। उसका आनन्द और उसका स्वरूप कुछ अलग ही होता है।

१८. प्रवाह-पाती मत बनो

२८ अप्रैल, १९९२, देशनोक

व्यक्ति के सोचने का तरीका अलग-अलग होता है। अतः किसी की सोच से दूसरे को व्यथित या हर्षित नहीं होना चाहिए। बल्कि उसे अपनी तटस्थ प्रज्ञा का सदुपयोग करना चाहिए। ऐसे प्रसंग में स्वयं की आत्मा जो साक्षी दे तथा उसमें जो संकल्प जागृत हो उसी के अनुसार उसे अपना व्यवहार बनाना चाहिए। दूसरे के प्रवाह में नहीं बहना चाहिए।

जो करना है उस पर केवल कल्पना के घोड़े नहीं दौड़ाकर उसे करने का संकल्प जागृत करना चाहिए।

१९. चारों तीर्थ कर्तव्य में सजग हों

३० अप्रैल १९९२, देशनोक

चतुर्विध संघ साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप है। चतुर्विध संघ की सुदृढ़ता के लिए उक्त चारों समूहों का स्वस्थ होना आवश्यक है। यह स्वस्थता मात्र शरीर से अपेक्षित नहीं है, अपितु सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में मर्यादा की परिपालना पूर्वक कार्यक्षमता से सम्बन्धित है।

साधु-साध्वी अपनी मर्यादा में रहते हुए कर्तव्य पालन में दृढ़ हैं, किन्तु श्रावक-श्राविका उक्त मर्यादा में अनुत्साहित हों तो संघ गरिमापूर्ण स्थिति से आगे नहीं बढ़ सकता। संघ की महत्ता व गरिमा तभी कायम रह सकती है जब चारों तीर्थ अपने कर्तव्य के प्रति पूर्ण सजग व तत्पर हों।

२०. संगठन की जीवन्तता के पाँच सूत्र

१ मई १९९२, देशनोक

जैसे मकान की छत को व्यवस्थित टिकाए रखने के लिए स्तम्भों की आवश्यकता होती है उसी तरह किसी भी संगठन को जीवन्त रखने के लिए स्तम्भ की तरह पाँच सूत्र अत्यावश्यक हैं। वे पाँच सूत्र हैं –

१. अनुशासन
२. स्व-संवेदनात्मक व्यवहार
३. गुणपरक समन्वय
४. सर्जनात्मक चिंतन
५. अप्रतिक्रिया

इन पाँच सूत्रों की परिपालना से संगठन में एक शक्ति का संचार होता है। जिससे वह क्रान्तिकारी कार्य करने में सक्षम हो सकता है।

२१. अद्वितीय शक्ति का हेतु

२ मई १९९२, देशनोक

मनुष्य की बहुत सी ऊर्जा/शक्ति अनावश्यक वचन प्रयोग के माध्यम से क्षीण हो जाती है। उस शक्ति को संग्रहित करने के लिए मौन सरल व अमोघ उपाय है। आत्मोपलब्धि में भी मौन एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मौन का समय निर्धारण कर वह समय यदि आत्म-चिन्तन में लगाया जाय तो उससे साधक की शक्ति का रूप अद्वितीय हो सकता है। तीर्थंकर भगवन्त इसी मौन का आश्रय लेते हैं जिससे अपनी अनन्त शक्तियों का जागरण कर लेते हैं। नीतिकारों ने भी मौन के संदर्भ में कहा है – “मौनं सर्वार्थसाधनम्”

२२. विश्व को महान् देन देने का गुर

२ मई १९९२, देशनोक

मनुष्य जितना सोचता है उतना यदि आचरण करने लग जाए तो वह विश्व को महान् देन दे सकता है किन्तु दुविधा यह है मानव कल्पना के घोड़े तो बहुत दौड़ाता है पर क्रियान्विति उसके चतुर्थांश में भी नहीं कर पाता। वह दुःख एवं द्वन्द्व में झूलता रहता है, क्योंकि उसकी मनोकामनाएँ पूर्ण नहीं होती। अतः उचित यह है कि एक विषय पर सोचकर उसकी क्रियान्विति किया जाए उसकी

क्रियान्विति के पश्चात् दूसरे विषय को सोचा जाय और उसकी क्रियान्विति के पश्चात् तीसरे विषय को। इस तरह मानव करने लग जाए तो वह हताशा, निराशा या असंतोष का शिकार नहीं बन सकता बल्कि कार्य करने की क्षमता जागृत होगी व नए-नए कार्य संपादित कर दुनिया को अपनी सर्जना से चमत्कृत कर सकता है।

२३. चाह और पात्रता

३ मई १९९२, देशनोक

समान्यतया व्यक्तियों की यह चाह होती है कि उनकी प्रशंसा हो किन्तु जब चाह के अनुरूप उन्हें प्रशंसा श्रुति-गोचर नहीं होती तो उनके मन में निराशा, कुण्ठा या डाह के भाव पैदा होने लगते हैं। यह अवस्था लम्बे समय तक चलती रहे तो ये ही विचारग्रंथियों का रूप धारण कर लेते हैं।

अतः क्या यह अच्छा हो कि व्यक्ति प्रशंसा चाहने के बजाय प्रशंसा पाने योग्य पात्रता स्वयं में प्राप्त कर लें।

२४. पहचानें स्वभाव को हटायें तनाव को

४ मई १९९२, देशनोक

प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव को जानकर सैद्धान्तिक धरातल को सुरक्षित रखते हुए यथा योग्य व्यवहार से तनाव, संघर्ष, विग्रह आदि से बचा जा सकता है।

२५. किस शरीर की सुरक्षा ?

६ मई, १९९२, देशनोक

हाड़-मांस से बना हुआ यह शरीर ही अब मेरा शरीर नहीं है बल्कि अब साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ ही मेरा शरीर है। हाड़-मांस के शरीर के बजाय उसकी सुरक्षा का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। चतुर्विध संघ रूपी शरीर में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अभिवृद्धि कैसे हो, इसके लिए सतत जागरूकता की अपेक्षा है।

चतुर्विध संघ रूप शरीर की स्वस्थता परम आवश्यक है। यह स्वस्थता अप्रमत्त भाव की आराधना, सतत वैराग्य भाव की साधना से संभव है।

२६. सहारा बेसहारा

९ मई १९९२, पलाणा

व्यक्ति के अहंकार को यदि सहारा मिल जाता है, पोषण मिल जाता है, तो वह खुश रहता है। जो उसके अहंकार को सहारा देता है, उसको वह भी सहारा देने लगता है। उस समय उसकी दृष्टि पूर्णतया निष्पक्ष हो यह कह पाना कठिन होगा। अधिकांशतः देखा यह जाता है कि ऐसे समय में व्यक्ति का चश्मा – नजरिया बदला हुआ रहता है। उस बदले हुए नजरिये से किया गया कथन भी अपने ढंग का होगा। ऐसे व्यक्ति के अहंकार पर जब चोट पड़ती है, चाहे वह चोट सत्य ही क्यों न हो, उसे वह सहन नहीं कर पाता। इससे उसके मन-मस्तिष्क में उद्वेग, तनाव आदि का प्रसंग बन जाया करता है। अतः ऐसे समय में यथार्थ को सम्मुख रख कर चिंतन किया जाय तो वह समझ पायेगा कि जो सहारा देनेवाला है वह स्वयं बेसहारा है। इसलिए ऐसा सहारा मुझे भी बेसहारा बनाने वाला होगा।

२७. शरीर-यंत्र

१० मई १९९२, भीनासर

वर्तमान मशीनरी युग में व्यक्ति ने भौतिक सम्पदा से स्वयं को काफी विकसित किया है। किस यंत्र की कितनी गति है, कितनी शक्ति है, कितनी क्षमता है इसका ज्ञान मनुष्य कर लेता है किन्तु उसके स्वयं के शरीर के अंदर चल रहे यंत्र से वह प्रायः अनभिज्ञ है। वह इस यंत्र से बेखबर है। इस दिशा में सोचने की भी फुर्सत नहीं है। शरीर के अंदर रहे हुए यंत्र की पहचान की जाय, उसका परिचय पाया जाय। उसकी गति, शक्ति व क्षमता का ज्ञान किया जाय। जब शरीरगत मशीन की गति आदि का ज्ञान हो जाएगा तो व्यक्ति को आश्चर्य होगा कि भौतिक यंत्रों में वह शक्ति वह क्षमता नहीं है जो शक्ति, जो क्षमता शरीर के अन्दर रही मशीन में है।

शरीरगत मशीन की अन्यान्य शक्तियों को एक बार के लिए गौण करके एक मन की शक्ति को ही लें। उसकी शक्ति, उसकी क्षमता का ज्ञान बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी कई बार नहीं कर पाते हैं, वे जंगलों में भटकते हैं, गुफाओं में रहते हैं फिर भी मन की शक्ति को जान पाने में सभी समर्थ नहीं हो पाते, इसी तरह इस शरीरगत मशीन में अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं। आवश्यकता है उनको जानने की पहचानने की, प्रकट करने की।

२८. त्रिलोकी नाथ

११ मई १९९२, भीनासर

परमात्मा को त्रिलोकीनाथ कहा जाता है। तीन लोक के स्वामी का तात्पर्य है 'तीनों लोकों में रहने वाले समस्त प्राणियों को अभयदान देने वाले'। दूसरे रूप में कहा जाए तो उन्होंने तीनों लोकों को अपने ज्ञान का विषय बना लिया। एक अर्थ यह भी है कि त्रिलोक की संज्ञा से अभिहित मानव शरीर में रहने वाली आत्मा को जानने वाले 'त्रिलोकीनाथ' कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि मानव शरीर को 'त्रिलोक' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। उसमें रहने वाली आत्मा को जिन्होंने जान लिया, आत्मा के प्रत्येक प्रदेश को जिन्होंने देख लिया। जो आत्मा के पूर्ण रूप से नाथ हो गए हैं, वे त्रिलोकीनाथ कहे जाते हैं, क्योंकि शरीर रूपी 'त्रिलोक' में आत्मा का निवास है, उसका नाथ बनना तीनों लोकों का नाथ बनना है।

२९. स्वर्ण से कुन्दन

१३ मई १९९२, भीनासर

संघर्ष व समस्याएँ व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। संघर्ष व समस्याओं से घबराओ मत, उनसे जूझना सीखो। ये संघर्ष व समस्याएँ अनुभव का पिटारा हैं। इनसे जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे पुस्तकों में लभ्य नहीं हैं।

आग के संयोग बिना स्वर्ण कुन्दन नहीं होता वैसे ही संघर्ष व समस्याओं में जीए बिना व्यक्तित्व में निखार नहीं आता।

३०. तत्काल निर्णय ?

१ जून १९९२, भीनासर

परिस्थितियाँ अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल, व्यक्ति को सँभल कर रहना चाहिए। आज की अनुकूल परिस्थितियाँ कल प्रतिकूल रूप धारण कर सकती हैं। वही प्रतिकूल लगने वाली अवस्थाएँ, परिस्थितियाँ समय पाकर अनुकूल भी हो सकती हैं। अतः परिस्थिति के आधार पर व्यक्ति को तत्काल निर्णायक मानस नहीं बनाना चाहिए बल्कि परिस्थितियों का धैर्य व तटस्थ भाव से अध्ययन करते रहना चाहिए।

३१. तीन बातें काम की

१ जून १९९२, भीनासर

१. कभी-कभी अधिक बोलने वाला 'बड़बोला' व्यक्ति जितना घातक नहीं होता उतना मौन। कम बोलने वाला व्यक्ति घातक सिद्ध हो जाता है।

२. जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव को देखकर घबराओ मत बल्कि इन अवस्थाओं को विकास का माध्यम/कारण/हेतु बनाकर अपने जीवन को कुन्दन बना डालो।

३. जीवन के हर मोड़ पर मुस्कुराते रहो, तुम्हे कोई पराजित नहीं कर सकता। एक क्षण की गमगीन अवस्था भी तुम्हारे श्रेष्ठ जीवन की मौत का कारण बन सकती है।

३२. वन्दना

८ जून १९९२, भीनासर

वन्दना जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। वन्दना के समय यह विवेक अनिवार्य है कि वन्दना किसे, कब, कैसे की जानी चाहिए।

वन्दना से जीवन का आमूलचूल परिवर्तन संभव है। हमारी साधना-धर्मारोपण का प्रथम सूत्र ही वन्दना है। प्रत्येक धर्मानुष्ठान का प्रारम्भ नमस्कार-मंत्र या तिकखुतो रूप वन्दना सूत्रों से होता है।

३३. महत्त्व का क्षण

१३ जून १९९२, भीनासर

सशक्त योद्धा युद्ध क्षेत्र में पीठ नहीं दिखाता। वह मोर्चा संभाले रहता है। विजय श्री को वरण करने हेतु उसका पुरुषार्थ जारी रहता है। उसी तरह मानसिक वृत्तियों के उद्वेग के क्षणों में साधक को दृढ़ संकल्पपूर्वक मोर्चा संभाले रहना चाहिए। उस समय का क्षणिक प्रमाद आत्मा के लिए भयंकर सिद्ध हो सकता है। क्योंकि एक बार की हार व्यक्ति के मनोबल को क्षीण कर देती है। पुनः मोर्चा संभालने जैसा मनोबल जुटाने में कितना ही समय लग सकता है। बिना मनोबल के मोर्चा संभाल पाना असंभव है। अतः मानसिक उद्वेग के क्षण में सतत जागृत रहें। जैसे आपत्ति के समय में सेना तैयार में रहती है। इस प्रकार की जागृत अवस्था व दृढ़ संकल्प भयंकर से भयंकर मानसिक उद्वेग के क्षणों में विजयी हो सकता है। एक बार विजय श्री प्राप्त कर लेने पर मन पहले से ही सुदृढ़ हो जाता है। उसमें अद्भुत क्षमता जागृत होती है जिसकी यकायक कल्पना भी नहीं की जा सकती, किन्तु उसके लिए ज्ञानीजनों का अनुभव है कि सदा अप्रमत्त रहो। तभी आपत्ति के क्षण को जाना जा सकता है। अन्यथा वह क्षण कब उपस्थित हो जाय, कहा नहीं जा सकता।

३४. वृत्तियों का ताण्डव नृत्य

२० जुलाई १९९२, उदयरामसर

आत्मा की अशुभ वृत्तियाँ भी सहसा पल्लवित नहीं होती बल्कि संस्कार जमते-जमते उनका फैलाव होता है। जैसे किसी भी अपराध को करते हुए अपराधी प्रारम्भ में घबराता हुआ, डरता हुआ उसमें प्रवृत्त होता है किन्तु जब उसमें वह सफल हो जाता है तो उसका साहस बढ़ता जाता है। इस प्रकार वह एक दिन कुख्यात अपराधी की श्रेणी तक पहुँच जाता है। वैसे ही आत्मा की अशुभ वृत्तियाँ भी धीरे-धीरे पनपती हुई इस कदर अपना फैलाव कर लेती हैं कि आत्मा का विवेक लुप्तप्रायः हो जाता है। उस दशा में अंतर का प्रकाश मंद हो जाता है। रह जाता है केवल वृत्तियों का ताण्डव नृत्य। अतः अशुभ वृत्तियों का जमाव बढ़ने के पूर्व ही व्यक्ति को सजग हो जाना चाहिए। केवल सजग ही नहीं अपितु अशुभ वृत्तियों के परिहारपूर्वक सद्वृत्तियों के पौधे लगाने प्रारम्भ कर

देना चाहिए ताकि उनके द्वारा शुद्ध स्वच्छ ऑक्सीजन रूप वायुमण्डल तैयार हो सकें और आत्मा का विवेक-दीप प्रज्वलित होकर आत्मा को आलोकित कर सके।

३५. दो बिन्दु चिन्तन के

२० जुलाई, १९९२, उदयरामसर

- अपराध-वृत्ति पनपने के पहले ही अन्तर की आवाज पर ध्यान देना बुद्धिमत्ता है।
- धार्मिक अनुष्ठानों का हमारे जीवन व्यवहारों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? इसका सूक्ष्मता से निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षण होना आवश्यक है।

३६. आत्मज्योति प्रकट करने का उपाय

२१ जुलाई १९९२, उदयरामसर

जिस कृत्य से हानि की संभावना ज्ञात हो जाय उस कार्य को करने में प्रज्ञावान् पुरुष, विचारवान् पुरुष सहसा उद्यमशील नहीं होते वरन् जिस कार्य से लाभ की संभावना परिज्ञात होती है उसी में प्रवृत्त होते हैं, यह प्रायः देखा जाता है। किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में ऐसा बहुत कम देखा जाता है। व्यक्ति को जानकारी हो जाए कि अमुक कार्य उसे संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं इस बात की जानकारी हो जाने पर भी व्यक्ति उसमें प्रवृत्ति करता रहता है। ऐसा क्यों? इसका कारण यह हो सकता है कि उसने जो जानकारी की है वह केवल पोथी का ज्ञान या मस्तिष्क का रटा-रटाया ज्ञान हो। वास्तव में यदि अंतर ज्ञान हो जाए तो व्यक्ति संसार परिभ्रमण जैसे आत्मा के लिए हानिकारक कार्य में प्रवृत्त हो नहीं सकता है। अतः जो ज्ञान पोथी या अन्य माध्यम से मस्तिष्क में जमाया गया है उसे अनुभूति का विषय बनाकर आत्म ज्योति प्रकट करना चाहिए।

३७. एक अवनत, दूसरा उन्नत

२५ जुलाई १९९२, उदयरामसर

आत्मा की उन्नत अवस्था प्राप्त करने के लिए अहं को अवनत करना आवश्यक है। जब तक अहं उन्नत अवस्था में बना रहता है तब तक आत्मिक शक्तियाँ अवनत रहती हैं। इसलिए साधनाशील आत्माओं को अपने मानापमान की परवाह नहीं करनी चाहिए बल्कि उसके लिए स्वयं के मान का उत्सर्ग कर देना, उसे नमा देना उचित है। उसे यह विचार भी नहीं करना चाहिए कि उसे कोई सम्मान दे रहा है या नहीं, क्योंकि सम्मान चाहने से सम्मान प्राप्त हो यह संभव नहीं है। व्यक्ति का कर्तृत्व ही उसे सम्मान प्राप्त करवाता है। उस अवस्था में सम्मान की चाह समाप्त हो जाती है। उसका एक मात्र लक्ष्य होता है आत्मा को उन्नत अवस्था प्राप्त करवाना। अतः एक को अवनत करने से दूसरा उन्नत होता है।

३८. जहा अंतो, तहा बाहिं

२८ जुलाई १९९२, उदयरामसर

आज के धार्मिक वातावरण को देखकर एक टीस पैदा होती है। उसका कारण है धर्म क्षेत्र में 'अनुगमन' की प्रवृत्ति। अनुगमन बुरा नहीं है किन्तु जिस अनुकरण में स्वयं की चेतना का कोई अस्तित्व न हो, उसका कोई जागृत क्षण नहीं हो, केवल बाह्य अनुष्ठानों में ही धर्म की इति श्री मानी जा रही हो, उस अनुष्ठान की 'आत्मा' को पूर्णतया भुला दिया गया हो ऐसा अनुगमन/अनुकरण यथार्थ को कैसे प्राप्त करवा सकता है।

उक्त स्थिति का गहराई से अनुचिंतन करने पर स्थिति बड़ी भयावह दृष्टिगत होती है। धार्मिक अनुष्ठान भी भीतरी तामसिक वृत्तियों का संरक्षण बनते नजर आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को बहुत सोच समझकर कदम आगे बढ़ाना चाहिए। उसे 'जहां अंतो, तहा बाहिं' के आदर्श के अनुरूप जीवन जीना चाहिए।

३९. स्वयं को उपशमित करें

२९ जुलाई, १९९२, उदयरामसर

रोग से आक्रान्त व्यक्ति आयुर्वेदिक वैद्य के पास गया तो उसने वक्त-पित्त-कफ सम्बन्धी दोष बताया। वही रोगी एलोपैथिक चिकित्सक के पास पहुँचा तो बी.पी. इन्स्ट्रुमेंट्स व स्टेथोस्कोप आदि से जाँच कर बी.पी. की बीमारी बताई। होमियोपैथिक का चिकित्सक उसकी हिस्ट्री सुनकर दवा देता है तो भोपा किसी व्यन्तर की छाया का दोष बताता है। वहीं ज्योतिषी ग्रह व नक्षत्र आदि का प्रकोप निरूपित करते हैं। एक ही रोगी अलग-अलग चिकित्सकों द्वारा भिन्न-भिन्न रोग से स्वयं को ग्रस्त पाता है।

ऐसी स्थिति में ज्ञानीजन कहते हैं कि मूल बीमारी कर्मों की है। जब तक असातावेदनीय का प्रबल उदय भाव बना रहता है। तब तक उसे असाता का वेदन करना पड़ता है। अतः रोग उपशमन के बजाय स्वकृत कर्मों का परिपाक जानकर स्वयं को उपशमित करना चाहिए।

४०. शक्ति केन्द्रों का उपयोग

३० जुलाई १९९२, उदयरामसर

एक व्यापारी को राजा ने चंदन का बगीचा दे सम्मानित किया। व्यापारी सोचने लगा कि बगीचा हमारे किस काम का ? हम तो व्यापारी हैं। मुझे तो इससे धन लाभ प्राप्त करना चाहिए। वह लाभ की धुन में उस चंदन के वृक्षों को कोयला बना-बनाकर विक्रय करने लगा। बहुत सारा चंदन उसने कोयले बनाकर नष्ट कर दिया। कहीं यही दशा आज के मानव की तो नहीं है, उसे पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं, मन-वचन-काया की शक्ति भी प्राप्त हुई हैं, इस शरीर में कैसे-कैसे शक्ति केन्द्र प्राप्त हुए हैं। जिन्हें जागृत कर वह भव-भव के दारिद्र्य को दूर कर अक्षय धनराशी को प्राप्त कर सकता है किन्तु वह प्राप्त शक्ति केन्द्रों का उपयोग नाकुछ भौतिक पदार्थों के लिए कर रहा है। यह चन्दन के कोयला बनाने तुल्य नहीं तो और क्या कहा जा सकता है ? मानव को अपनी शक्ति का अहसास करना चाहिए।

४१. जीवन की भोर

२२ अगस्त, १९९२, उदयरामसर

व्यक्ति की मनोवृत्ति का जब अध्ययन करते हैं तो लगता है कि व्यक्ति पाप करने से नहीं डरता। वह पाप करने की प्रवृत्ति को छोड़ नहीं पाता किन्तु परिवार समाज उसे पापी नहीं समझे इसका वह प्रयत्न अवश्य करता है। परिवार समाज के बीच वह अपनी छवि ऐसी रखना चाहता है कि वह धर्मात्मा है, सद्गुणी है। यह एक प्रकार का स्वयं का स्वयं के प्रति छलावा है, दम्भ है। जो स्वयं को छल सकता है वह दूसरों को छलने से पीछे नहीं हट सकता अर्थात् वह दूसरों को भी छलने वाला होता है। स्वयं को छलने की मनोवृत्ति को ही सर्वप्रथम संशोधित करना आवश्यक है। ऐसा होने पर वह सद्गुण रुपी जीवन की भोर होगी।

४२. जीवन की समग्रता का ज्ञान

२२ अगस्त, १९९२, उदयरामसर

क्रोध, दम्भ, ईर्ष्या, डाह आदि आत्म शत्रु आत्मा के सहारे ही टिके हुए हैं। वे तब तक आत्मा का साथ निभाते हैं जब तक आत्मा जीवन-दर्शन को प्राप्त नहीं कर लेता।

जीवन-दर्शन से तात्पर्य जीवन की समग्रता का ज्ञान है। उससे व्यक्ति में एक अलौकिक शक्ति का जागरण होता है। उस शक्ति का केन्द्र भी आत्मा ही है। किन्तु उसका जागरण जीवन दर्शन के क्षणों में ही हो पाता है। उसके जागरण से आत्म-शत्रु स्वयं को कमजोर महसूस करने लगते हैं। वे छिपना चाहते हैं किन्तु जागृत शक्ति केन्द्र से प्रवाहित शक्ति से वे अनावृत होते जाते हैं। अन्ततोगत्वा उन्हें अपना आसन समेटना पड़ता है। क्योंकि प्रकाश व अंधकार एक साथ नहीं रह पाते।

४३. ऊर्जा का प्रवाह

३१ अगस्त, १९९२, भीनासर

तपस्या से शरीर का तेजस् सक्रिय होता है जिससे उसमें विद्युत तरंगों प्रवाहित होने लगती है, जो एक प्रकार की ऊर्जा है। उस ऊर्जा का यदि सम्यक्

नियोजन किया जाये तो वह कर्म क्षय की प्रक्रिया का प्रमुख अंग बन जाती है। यदि उसका सम्यक् नियोजन नहीं किया गया तो बरसाती नदी की तरह तटबंधों को तोड़कर बाढ़ का रूप ले सकती है, जो विध्वंसकारी हो सकता है। उसका वह प्रकटीकरण क्रोध, अहंकार आदि के रूप में होता है। उसी प्रादुर्भूत ऊर्जा को यदि सम्यक्तया आत्मशुद्धि की प्रक्रिया में लगाया गया तो जैसे विद्युत का विनियोजन होने पर वह मानव के लिए उपयोगी सिद्ध होती है, उसी प्रकार उस ऊर्जा से अनेक ग्रंथियाँ विमोचित होंगी। जिसके फलस्वरूप चैतन्य केन्द्रों को जागृत करते हुए वह ऊर्जा कर्म-कल्मष को आत्मा से अलग कर आत्मा को निर्मल आलोक प्रदान करती है।

४४. स्वभाव-विभाव और चारित्र चक्र

३१ अगस्त १९९२, उदयरामसर

भरत चक्रवर्ती का चक्ररत्न आयुधशाला में तब तक प्रविष्ट नहीं हुआ जब तक उनके सहोदर भ्रातागण स्वतंत्र थे। प्रभु के उपदेश से अठानवें सहोदर भ्राता दीक्षित हो गये। लेकिन बाहुबली जी ने अधीनता स्वीकार नहीं की। भरतजी अपने भाई के साथ युद्ध करना नहीं चाहते थे किन्तु चक्रवर्ती के लिए सबको अधीन करना आवश्यक होने से उन्हें भाई के साथ युद्ध करना पड़ा। सहोदर भाई पर विजय प्राप्त होते ही चक्र आयुधशाला में प्रविष्ट हो गया।

हमारी आत्मा में आत्म गुण रूप स्वभाव व कषायादि रूप विभाव दोनों सहोदर के रूप में रहे हुए हैं। कर्मों की जकड़ के कारण स्वभाव अपने विभाव रूपी भाई से युद्ध करना नहीं चाहता। विवेक रूपी देव के संबोधन से विभाव से युद्ध किया जाता है। जैसे ही विभाव हटता है स्वभाव का आधिपत्य हो जाता है। चारित्र रूपी चक्र आत्मस्थ हो जाता है, जो कषाय-आत्मा, योग आत्मा के केन्द्रों को परिमार्जित करता हुआ शुद्ध-विशुद्ध द्रव्य आत्मा के रूप में अभिव्यक्त होता है।

४५. प्रकटित ज्ञान और संगृहीत ज्ञान

२ सितम्बर, १९९२, उदयरामसर

एक दवा की शीशी है उस पर फार्मूला अंकित है। एक व्यक्ति उसे पढ़कर ज्ञान करता है। दूसरा व्यक्ति दवा का निर्माण करने वाला है उसने रसायनों (Chemicals) का प्रयोग करके दवा तैयार की है। दोनों को दवा का ज्ञान है किन्तु जिसने रसायनों का प्रयोग करके दवा का निर्माण किया है। उसका ज्ञान पूर्ण रूप से दृढ़ होता है क्योंकि उसे उस पर पूरा भरोसा है। जबकि पहला व्यक्ति अपने उस ज्ञान पर पूर्णतया विश्वस्त नहीं हो पाता है। इसी प्रकार दर्शनपूर्वक जो ज्ञान होता है वह हमारे में प्रकट होता है जब कि फार्मूले से जो ज्ञान होता है वह संगृहीत किया हुआ होता है। एक 'स्वयं में' होता है जबकि दूसरा 'उसके पास' होता है। व्याकरण की दृष्टि से प्रथम प्रकार के ज्ञान वाला ज्ञानी सप्तमी विभक्ति का अधिकारी होता है, जबकि दूसरे प्रकार के ज्ञान वाला ज्ञानी षष्ठी विभक्ति का अधिकारी होता है। अतः दर्शनपूर्वक ज्ञान आत्मज्योति को प्रकट करने वाला होता है।

४६. एक्युप्रेशर पद्धति के सूत्र

५ सितम्बर १९९२, उदयरामसर

एक्युप्रेशर पद्धति का प्रारंभ कब हुआ ? कब से उसका प्रचलन हुआ, यह इतिहास का विषय है किन्तु प्राचीन जैन साहित्य पर जब अनुप्रेक्षा करते हैं तो लगता है उसमें एक्युप्रेशर पद्धति के सूत्र मौजूद है। महाप्राण ध्यान साधना, समाधि आदि में पहुँचे हुए साधक को जब जागृत किया जाता था, पुनः जब उसे बाह्य परिवेश में उपस्थित करना होता था तब उसके पैर का अंगुष्ठ दबाया जाता था। यह हम परम्परा सुनते आए हैं। पर जब सोचते हैं कि पैर का अंगुष्ठ क्यों दबाया जाता था ? उसका ध्यान, साधना व समाधि के साथ क्या ताल्लुक (संबंध) है ? इसी चिन्तन में एक्युप्रेशर का सूत्र छिपा हुआ है। इडा-पिंगला का मेल अंगूठे में रहा हुआ है। पिनियल ग्रंथि (pineal gland) का स्विच (switch) अंगूठे में है। हमारे ध्यान साधना के कई केन्द्रों के स्विच अंगूठे में रहे हुए हैं।

व्यक्ति विचार कर सकता है कि यह क्या है ? यह कैसे हो सकता है ? किन्तु अनहोना नहीं है। आज भी देखा जाता है, बल्ब कहीं होता है, जबकि

स्विच काफी दूरी पर होते हुए भी उस बल्ब को जला देती है, बुझा देती है। यह अवस्था हमारे अंगूठों में भी है। इसी प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के भिन्न-भिन्न स्विच हैं। उनके अनुसंधान का परिणाम एक्युप्रेसर पद्धति है। यह हमारे शरीर और साधना से जुड़ी हुई पद्धति है।

४७. स्वयं की तुलना करो

१० अक्टूबर १९९२, उदयरामसर

सावधान! सत्ता की प्राप्ति हुई तो सोचो उसके माध्यम से सेवा का सुअवसर प्राप्त हुआ है। इसके विपरीत यदि कर्णप्रिय प्रशंसा के बीच उलझ गए तो वह जीवन के लिए घातक स्थिति पैदा कर सकती है।

प्रशंसा करने वाले मना करने से रुक नहीं पाते हैं। अतः जब जब प्रशंसा के शब्द कर्णगोचर हो उस समय तुलना करते रहो कि जो कहा जा रहा है वैसी मेरी स्थिति है या नहीं ? यदि नहीं है तो उससे प्रेरणा यह लेनी चाहिए कि अपनी कमजोरियों को निकालकर मैं यथास्वरूप को प्राप्त करूं। इससे आत्मा को संबल मिलता है तथा प्रशंसा के चक्रव्यूह में फँस नहीं सकता।

४८. तूफान के क्षण

११ अक्टूबर १९९२, उदयरामसर

वासना एक प्रकार का आवेग है, तूफान है। जिस समय व्यक्ति में उसका ज्वार आता है उसकी हरकतें पशुतुल्य बन जाती हैं। जैसे पशु अपने विषय की पूर्ति के लिए तदनुकूल के पीछे भागता है उसी प्रकार व्यक्ति भी अपने अस्तित्व को गौरव, गरिमा को भुलाकर बहकने लगता है। मद में बेहोश हो जाता है। ऐसे क्षणों में जो स्वयं को संभाल लेता है वह महान् पुरुष बन जाता है। तूफान को समर्पित पदार्थों की क्या दशा होती है यह सुविदित है वैसी ही दशा विषय के आवेग में, तूफान में बहने वाले मानव की बनती है। उसका पतन किस हद तक होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए तूफान के क्षणों में संभलकर रहो।

४९. आग में घी की आहुति

१६ अक्टूबर १९९२, उदयरामसर

कई व्यक्ति अग्नि को उद्दीप्त करने के लिए उसमें घी डालते हैं। ऐसा करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य जो भी रहा हो किन्तु जब चिन्तन करता हूँ तो उसका दूसरा पक्ष भी उभर कर सामने आता है कि व्यक्ति कषाय रूपी अग्नि में आत्मा रूपी घी की आहुति देकर मस्त हो रहा है। वह यह नहीं सोचता कि इससे उसकी आत्मा की क्या दशा बनने वाली है? वह सोचे भी कैसे, क्योंकि उसकी आत्मा पर अज्ञान अंधकार का पर्दा जो पड़ा हुआ है।

५०. 'स्वस्थ' होना आवश्यक

१६ अक्टूबर १९९२, उदयरामसर

सफल जीवन के लिए व्यक्ति को स्वस्थ होना आवश्यक है। स्वस्थता में जो आहार ग्रहण किया जाता है उसका पाचन होकर यथोचित रस तैयार होता है। वह रस भीतरी रासायनिक प्रक्रिया से सप्त धातु रूप परिणत होता है जो शरीर को संपुष्ट करती है। बीमारी की हालत में ग्रहण किए हुए आहार का सम्यक् पाचन नहीं होता फलस्वरूप धातुएँ भी सबल नहीं होती। व्यक्ति कितना ही खाता रहे वह निर्बल का निर्बल ही बना रहता है। इसी प्रकार आत्मा जब तक मिथ्यात्व रूपी रोग से पीड़ित होती है तब तक वह संपुष्ट नहीं हो पाती। वह जो भी ग्रहण करती है उसका परिणमन सही नहीं होता जिससे उसे जो सफलता मिलनी चाहिए वह प्राप्त नहीं हो पाती अतः आत्मा का मिथ्यात्व रूपी रोग हटाकर उसे स्वस्थ बनाया जाय। उसके स्वस्थ हो जाने पर उसकी जो भी क्रिया होगी, उसका परिणमन सही होगा, जिससे वह जीवन की सफलता के चरम छोर 'मोक्ष' को प्राप्त कर सकती है।

५१. बाहर की रौनक

१६ अक्टूबर १९९२, उदयरामसर

कपूर की टिकिया अधिक देर तक नहीं रहती, वह उड़ जाती है। संसार के पदार्थों पर जब चिन्तन किया जाता है तो वे भी क्षणिक ही प्रतीत होते हैं। कोई भी पदार्थ स्थायी टिकते नजर नहीं आते। जैसे हल्दी का रंग धूप में उड़ जाता है, वैसे ही ये सारे भौतिक पदार्थ क्षणभंगुर हैं और तो क्या जिस शरीर को आत्मा ने ग्रहण कर रखा वह भी तो टिकाऊ नहीं है। यह भी नष्ट हो जाता है। अतः हे चेतन! इनमें क्यों भटक रहा है क्यों अटक रहा है तुम्हारा स्वरूप इससे भिन्न है उसे संभाल। उसे यदि संभाल लिया तो बाहर की सारी रौनक स्वतः फीकी लगने लगेगी।

५२. शिष्य के दो रूप

१ नवम्बर १९९२, उदयरामसर

शिष्य के दो रूप हैं। एक पानी का रूप दूसरा घी का रूप। पानी के तुल्य शिष्य अपने दुग्ध रूपी गुरु के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वह जल सकता है, पर गुरु से विलग नहीं रह सकता। गुरु का सामीप्य मिलने के पश्चात् उसकी गति, मति, जीवन एक मात्र गुरु होता है। वहाँ अनहद गूँजता है “अब सौँप दिया इस जीवन को, गुरुदेव तुम्हारे हाथों में, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में” वहाँ कोई शिकायत नहीं, कोई तर्क नहीं, वितर्क नहीं, किन्तु घी के समान शिष्य अपना प्रदर्शन चाहता है। वह दूध रूपी गुरु पर छाया रहता है। गुरु में सिमटने के बजाय गुरु को स्वयं में सिमटाने का प्रयत्न करता रहता है। वह ऊपर-ऊपर रह जाता है। वह केवल प्रदर्शन में स्वयं को रख लेता है पर गुरु का तादात्म्य उसे प्राप्त नहीं होता। यद्यपि उसकी निष्पत्ति दूध रूपी गुरु से है तथापि उसे वह भूल जाता है।

५३. दर्शन और व्यवहार का समन्वय

३ नवम्बर १९९२, उदयरामसर

जीवन का एक पहलू दर्शन रूप होता है व दूसरा पहलू व्यवहार रूप। दर्शन सिद्धान्त हुआ करता है जो अपने भीतर आदर्श को समाए रहता है। व्यवहार-आचार रूप होता है। इन दोनों का समन्वित रूप (सम्मिलित अवस्था) जीवन की श्रेष्ठता को अंकित करता है। दर्शन और व्यवहार में जब तक दूरी रहती है, व्यक्ति जीवन के यथार्थ रहस्य को प्राप्त नहीं कर पाता।

जहाँ जीवन की समग्रता प्रकट होती है, वहाँ दर्शन और व्यवहार एकाकार हो जाते हैं। दोनों का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। वहाँ वह जीवन स्वयं दर्शन रूप बन जाता है। जो दूसरों का आदर्श बन जाता है। अतः जीवन के दोनों छोरों को एक बनाकर उसके यथार्थ को प्राप्त करने में हमारा भव्य पुरुषार्थ जागृत हो।

५४. तिजोरी की चाबियाँ

४ नवम्बर १९९२, उदयरामसर

पिता ने मृत्यु के समय पुत्रों से कहना प्रारंभ किया – मैंने सारी सम्पत्ति तिजोरी में भर दी है कहते-कहते उसके प्राण निकल जाते हैं। परिवार वाले तिजोरी के पास पहुँचे पर चाबियाँ मिल नहीं रही थी। उसमें जो विचक्षण था वह सोचने लगा चाबियाँ जाएगी कहाँ ? पिताजी अपने साथ तो ले नहीं गये। वह अपनी प्रज्ञा से चिंतन करने लगा। उसे चाबियों का पता ज्ञात हुआ व पिता की सम्पत्ति का उपयोग कर सका।

वीतराग परमात्मा ने जो उपदेश दिया वह वैभव गणधरों ने शब्दों रूपी तिजोरियों में भर दिया। एक शब्द रूपी तिजोरी में इतना वैभव है कि उसको निकालते जायें तो भी वह खाली नहीं हो सकता। पर उसकी चाबी ? वह प्रत्येक नहीं पा सकता जो विचक्षण प्रज्ञावान पात्र होता है उसी को वे चाबियाँ प्राप्त हो पाती हैं।

५५. मैं तो ज्ञानी हूँ

५ नवम्बर १९९२, उदयरामसर

एक गिलास दूध से भरा हुआ है। किसी ने उसमें से एक बूँद ग्रहण की और स्वयं के दुग्ध पान करने का दावा करने लगा। उसने दूध चखा जरूर है पर

उसका पान नहीं किया है। यह दशा आज के अनेक अध्येताओं की है। उन्होंने शब्द रूपी गिलास में भरे हुए दूध रूपी भावों में से बूँद तुल्य एक आध भाव को भी प्राप्त किया या नहीं कि स्वयं को ज्ञानी मान लेते हैं। जहाँ स्वयं को ज्ञानी मान लिया गया वहाँ विकास के, ज्ञान प्राप्ति के दरवाजे बंद करते हैं – क्योंकि जैसे ही ज्ञान उसके पास आता है वह कहेगा 'मैं तो ज्ञानी हूँ' ऐसी स्थिति में ज्ञान का वहाँ प्रवेश हो नहीं पाता है। इसे भी एक प्रकार का परिषह माना गया है। इस परिषह को विरल विभूतियाँ ही सह सकती हैं अथवा उस पर विजय प्राप्त कर सकती हैं।

५६. समय सीमित है

११ मार्च १९९४, उदयरामसर

स्थविर प्रमुखों का आगमन हो रहा है। राजनैतिक धरातल पर जैसे अटकल बाजियाँ लगती हैं, वैसे ही लोग अपनी-अपनी अटकलें लगा रहे हैं। अलग-अलग व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप से अपनी अभिव्यक्ति दे रहे हैं। पानी में कंकर पड़ने की तरह क्षणिक तरंगें उठती हैं, किन्तु भीतर में गहराई में कहीं पर भी हलचल नहीं है। कहीं विरोध के भाव नहीं हैं। बल्कि आत्मविश्वास के भाव हैं। स्वयं के हृदय को खोलकर रख देना चाहता हूँ। मन चाहता है जो कुछ हो रहा है होने दे। तू अपने हाल में मस्त रह। तू किसी भी परिस्थिति में गम क्यों करे। तू तो पहले भी वहीं था, आज भी वही है। यदि पद की विशेषता है तो उससे तो आत्मविकास का प्रसंग होना चाहिए। क्यों छोटी-छोटी बातों में उलझना? समय सीमित है। उसमें जो करना है सो कर लो। चाहे तो सर्जन, चाहे तो विध्वंस। सर्जन से शक्ति बढ़ती है, विध्वंस से उसका ह्रास होता है।

यद्यपि कुछ एक बातें मन को व्यथित करती हैं। सोचता हूँ- "अनावश्यक बवण्डर क्यों उठ जाते हैं ? यह भी सोचता हूँ कि मैं कुछ भी निवेदन करूँ उसका परिणाम सही क्यों नहीं होता है ?" किन्तु उसका समाधान स्वतः प्राप्त होता है। जहाँ तक संभव है, जो मैं सोचता हूँ वही कारण हो सकता है।

५७. नियन्ता की अपेक्षा

१० मई १९९४, देशनोक

प्रत्येक आत्मा के लिए अभियन्ता/नियन्ता की आवश्यकता होती है। नियामक/नियन्ता के बिना उसकी दिशा बदल जाती है तथा वह मुक्त नहीं होता बल्कि विकसित हो जाता है। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर कई दर्शन ईश्वर को नियन्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उसे यदि सही रूप में परिभाषित किया जाए तो कहीं उलझन की बात ही नहीं रहती। जब तक तुम्हारा स्वयं का नियन्ता नहीं जगा है, तब तक दूसरे नियन्ता/अनशास्ता की अपेक्षा रहती है ताकि वह सारणा-वारणा करता रहे। बहू नई-नई ससुराल आई। सासु कहती है - 'यह करना है, यह नहीं करना है। अमुक स्थान पर नहीं जाना है।' सासु का अनुशासन मानती हुई बहू वैसा ही आचरण करती है। सासु की मृत्यु हो गई। अब बहू के लिए दो मार्ग हो सकते हैं, पहला तो यह कि इतने दिन सासुजी रोकने वाली थी, अब कौन है? अब जहाँ चाहूँ वहाँ विचरूँ। कौन मना करने वाला है? भूखे भेड़िये की भाँति उसका स्वच्छन्द आचरण होने लगता है। यह विकसित दशा है। किन्तु जिसने सासु के अनुशासन को समझा, वह सोचेगी - 'अब सासुजी नहीं रही। इतने समय तक वे अपना उत्तरदायित्व निर्वाह करती थी, अब उस दायित्व को मुझे स्वयं को निर्वहन करना है।'

वह आत्मानुशासन प्रारम्भ करती है, स्वयं की नियन्ता स्वयं बन जाती है। 'पर' का नियन्त्रण 'स्व' के नियंत्रण को जागृत करने के लिए है, न कि 'पर' के नियंत्रण में ही अभ्यस्त होना है। जब तक व्यक्ति स्वयं का नियन्ता नहीं हो जाता तब तक उसे किसी दूसरे की अपेक्षा रहेगी। जब तक कार चलाना स्वयं नहीं सीख लेता तब तक ड्रायवर की अपेक्षा होगी ही। जब स्वयं कार चला सकता है तो ड्रायवर हो या ना हो, कोई अंतर नहीं पड़ता। पाँच व्यवहारों में आगम व्यवहारी स्वयं का नियन्ता स्वयं होता है। अन्य ड्रायवर होता है तो उसके हाथों में भी कार सौंप देता है। आवश्यकता पड़ती है तो स्वयं भी ड्रायविंग करने लग जाता है, किन्तु अन्य व्यवहार वे आगम व्यवहारी बनने के लिए उपादेय हैं। भीतर की नियंत्रण शक्ति को जागृत करने के लिए अन्य व्यवहारों में व्यक्ति को प्रवृत्त होना चाहिए।

गुरु का शिष्य पर अनुशासन तभी तक रहता है जब तक उसके भीतर का

नियन्ता-गुरु जागृत न हो जाय। जब स्वयं हेय, ज्ञेय व उपादेय उत्सर्ग अपवाद का पूर्ण ज्ञाता हो जाय तो उस अवस्था में वह स्वयं का नियन्ता हो जाता है। उस समय गुरु की अनुपस्थिति भी रही तो वह अपनी कार को गति दे सकता है, चला सकता है। बच्चे को अंगुली पकड़कर इसलिए नहीं चलाया जाता है कि वह अंगुली पकड़कर चलने का अभ्यासी बन जाय अपितु अंगुली पकड़कर चलाने का तात्पर्य है कि इसके पैरों में वह शक्ति आ जाये कि वह स्वयं अपने पैरों पर नियंत्रण कर सके। तब उसका भीतर ही उसका सहारा बन जाएगा।

इसी प्रकार मरीज को सहारा देकर खड़ा किया जाता है फिर सहारा देकर धीरे-धीरे चलाया जाता है। वह चलाना भी इसलिए है कि कालान्तर में वह स्वयं अपने सहारे से चलने लगे। अतः स्वयं के नियन्ता/अभियन्ता को जागृत करने के लिए अन्य नियन्ता की अपेक्षा है। जब तक स्वयं का अनुशासन जागृत ना हो जाय तब तक शिष्य को गुरु का, पुत्र को पिता का, बहु को सासु का, अनुशासन स्वीकार करना चाहिए। ताकि उसकी दिशा मुक्ति की दिशा हो, न कि विकसित होने की। इसी रूप में व्यक्ति ने ईश्वर को अपने अभियन्ता के रूप में, आदर्श के रूप में स्वीकार कर लिया है। वह तभी तक आवश्यक है तब तक स्वयं की नियंत्रण शक्ति को जागृत न कर ली हो। भगवान महावीर उस शक्ति को जागृत करके मुक्त हुए। दार्शनिक नीत्शे भी उस विचार तक पहुँचा किन्तु स्वयं पर नियन्त्रण नहीं कर पाया और वह विकसित हो गया।

५८. स्नेह सरिता का प्रवाह

११ मई १९९४, देशनोक

संघीय व्यवस्था में पारस्परिक स्नेह-सौहार्द का होना अत्यन्त आवश्यक है। किसी भी प्रकार की पकड़ या ग्रन्थि जहाँ बन जाती है, वहाँ स्नेह की सरिता अवरूद्ध हो जाती है। समष्टिगत जीवन में अन्य सदस्यों की स्थिति से भी कुछ तनाव बन जाना स्वाभाविक है। उस तनाव का निराकरण यह हो सकता है कि सिंघाड़े के प्रमुख संत-सती अपने कर्तव्य का निर्वाह करें। उनका कर्तव्य है कि जैसे ही अनुशास्ता के पास पहुँचें, अपने साथ वाले संत-संती व उपधि आदि उन्हें समर्पित कर दें और निवेदन करें कि इनको आपकी सेवा में या अन्य जिनके साथ नियोजित करना चाहें, करें। इतनी उदारता उनकी तरफ से हो तो

अनुशास्ता भी उनकी आवश्यकता का ध्यान रखकर उनसे उन्हीं संतों के लिए अथवा अन्य संतों के लिए आमंत्रण करें कि आप इनको साथ ले जाओ। इस प्रकार की व्यवस्था से परस्पर विश्वास का वातावरण बनता है तथा स्नेह-सौहार्द की पावन सरिता का प्रवाह प्रवाहित होता है।

५९. आचार्य का कर्तव्य

११ मई १९९४, देशनोक

आचार्य का कर्तव्य होता है कि शिष्यों को केवल दीक्षा ही देकर संतोष नहीं कर ले, बल्कि उनके जीवन को निष्पत्ति तक पहुँचावे, इसलिए यह आवश्यक है कि उनका प्राथमिक शिक्षण अनुशास्ता के सान्निध्य में उनकी देखरेख में सम्पन्न हो। परिपक्व अवस्था में उन्हें जहाँ कहीं भी रखने का प्रसंग बन जाए तो उसमें प्रकृति आदि जन्य विषमताएँ विशेष रूप से सामने नहीं आए।

दीक्षा भी तभी देना चाहिए जब दीक्षार्थी की प्रकृति आदि की विषमता परिमार्जित हो। दीक्षार्थी की बुद्धि बाल-बुद्धि न हो, बल्कि बुद्धि में परिपक्वता हो। अध्ययन कार्य एक स्थान पर होना चाहिए, ताकि सभी एक दूसरे से घुलमिल सकें।

६०. स्विच ऑन ही न हो

१५ मई १९९४, देशनोक

माया प्रक्षेपास्त्र के समान दूर से घात करती है। उसका निवास दिल में माना गया है, किंतु घात वह दिमाग पर करती है। उसका प्रभाव बुद्धि पर होता है।

माया से बुद्धि विकृत होती है, उसमें वक्रता आ जाती है। वक्रता के क्षणों में बुद्धि की यथार्थग्राहिणी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। जिससे वह वितण्डा की दिशा में प्रवृत्त होती है। वह अवस्था आत्मा के मूल उत्स को भूलाने वाली होती है। इसलिए माया रूपी प्रक्षेपास्त्र का स्विच ऑन ही न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए।

६१. अहिंसा का सकारात्मक रूप

२० मई १९९४, देशनोक

अहिंसा का अर्थ केवल निशेधात्मक ही नहीं है, बल्कि अहिंसा का स्वरूप बड़ा व्यापक है। अहिंसा केवल त्याग (छोड़ना) ही नहीं है अपितु प्राप्त करना भी है। अहिंसा में समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव रहा हुआ है। जब तक सभी प्राणियों पर मैत्री भाव जागृत नहीं होता, अहिंसा जीवन में फलित नहीं हो सकती।

धर्म का स्वरूप अहिंसा बताते हुए संयम और तप को भी साथ में रखा गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि अहिंसा संयमपूर्वक होनी चाहिए। संयम भी इच्छा निरोध रूप तप के बिना संभव नहीं। जब इच्छाओं का निरोध हो गया तो सब के प्रति स्वाभाविक मैत्री भाव बनेगा। इच्छाओं की पूर्ति में जो बाधक बन जाता है उससे द्वेष पैदा होता है। किंतु जब इच्छा ही नहीं रहेगी, कामना ही नहीं रहेगी, तो उसके जीवन में सबके प्रति समानता का भाव होगा जो अहिंसा का सकारात्मक रूप है।

६२. संघ संचालन की रूपरेखा

१ सितम्बर १९९४, नोखा

संघ व्यवस्था के लिए विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है, किंतु वह विकेन्द्रीकरण पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हो सकता। अमुक सीमा तक कार्य अमुक अधिकारी कर सकता है। अंतिम निर्णय आदेश वह आचार्य के अधीन रहेगा। इस प्रकार की व्यवस्था से संघीय संचालन सुचारु रूप से हो सकता है।

उदाहरण के तौर पर एक अधिकारी संत-सती वर्ग के विचरण की रूप रेखा, वृद्ध संत-सती वर्ग की व अध्ययनरत साधु-साध्वियों की सुविधापूर्वक तय करे। विचरण की रूप रेखा आदि के लिए उन साधु-साध्वियों को मानसिक रूप से तैयार करे। उसकी सूचना वह आचार्य श्री को करता रहे। संबंधित साधु-साध्वियों की मानसिक तैयारी हो जाने पर उन्हें आदेश-निर्देश का कार्य आचार्य श्री करें। इस प्रकार से अन्य व्यवस्थाएँ भी नियोजित की जा सकती हैं। वर्तमान हालातों में यह आवश्यक है कि दीक्षाएँ आचार्य श्री के पास हो व

नवदीक्षित अमुक समय तक आचार्य श्री की सेवा में ही रहें। इससे नैशिक पारस्परिक सद्भाव सम्भव है।

संघ के उन्नयन हेतु एक योजना आयोग की भी अपेक्षा है। उक्त आयोग का प्रमुख पद आचार्य श्री के अधीन रहे, यानि वे उसके प्रमुख/अध्यक्ष रहें। एक प्रबुद्ध संत को उपप्रमुख बनाया जाये, अन्य तीन या चार सदस्य हो। यह आयोग त्रिवर्षीय योजना चरणवार आयोजित करे। योजना मात्र आदर्श रूप न हो, व्यवहार्य भी हो।

इसकी योजना पूरी अलग से अंकित कर रहा हूँ।

साहित्य की अपेक्षा को नकारा नहीं जा सकता, पर वह व्यवस्थित हो। इसके लिए साहित्य अधिकारी के निर्देशन में एक साहित्यिक प्रणयन समिति का गठन होना चाहिए।

शिक्षा के लिए भी इसी प्रकार से एक अधिकारीपूर्वक समिति का गठन हो। सभी समितियों का कार्यकाल दो वर्ष या तीन वर्ष का रखा जा सकता है। कार्य समीक्षा के पश्चात् परिवर्तन अथवा समय वृद्धि का भी चिंतन किया जा सकता है।

६३. वार्धक्य का कारण

स्थान-नोरखा

आम व्यक्ति वृद्ध हो जाता है, कोई कोई तो असमय ही वृद्ध हो जाता है। साधारणतया यह माना जाता है कि यह तो समान्य बात है, प्राकृतिक है, शरीर का धर्म है, वय के साथ-साथ बुढ़ापा आता है किंतु इसके साथ ही यह प्रश्न उभरता है कि तीर्थकर महापुरुष व अन्य-अन्य कर्मवीर महान आत्माएँ उनमें वार्धक्य क्यों नहीं आता। तीर्थकर महापुरुषों के लिए ऐसा कहा जा सकता है कि उनका अतिशय है किंतु यह समाधान तर्क की दृष्टि से जम नहीं पाता है। इस परिप्रेक्ष्य में चिंतन करते हैं तो इसका बहुत सुन्दर समाधान यह है कि जो शरीर इच्छा व मन के भार को जितना अधिक ढोता है, वह उतना ही जल्दी वृद्ध होता है। तीर्थकर इच्छा व मन के भार को नहीं ढोते। वे सहज रूप में जीते हैं। अतः उन्हें बुढ़ापा नहीं आता।

६४. उछल-कूद छोड़े.

२२ अक्टूबर १९९४, नोखा

उछलकूद करने वाला आगे नहीं बढ़ सकता। वह उछल-उछल कर उसी स्थान पर गिरता रहता है। परिश्रम उसका भले ही हो जाए, पर विकास नहीं कर पाता। उतना ही परिश्रम यदि मार्ग तय करने में लगावे तो गन्तव्य तक, मंजिल तक पहुँच सकता है। आज अधिकांशतः देखा यह जाता है कि व्यक्ति उछल कूद ज्यादा करते हैं। वह उछल कूद शरीर की न होकर चाहे मन की हो, तर्क की हो। मन की उछल कूद भी जीवन के लिए घातक है। अतः उछलकूद को छोड़कर मार्ग तय करने रूपी गति को लक्ष्य में रखें

६५. आकाश में उड़ने का तरीका

२२ अक्टूबर १९९४, नोखा

आकाश में उड़ने का बहुत से व्यक्तियों को शौक होता है, किंतु आकाश में उड़ने का तरीका बहुत कम व्यक्ति जानते होंगे। आकाश में उड़ने के पहले पैरों के नीचे की जमीन को मजबूत करना आवश्यक है। पैरों के नीचे की जमीन मजबूत नहीं है तो लाख कोशिश कर ली जाए, व्यक्ति आकाश में उड़ नहीं सकता। प्लेन, हैलीकॉप्टर आदि को उड़ने के लिए भी पक्की भूमि की आवश्यकता होती है।

‘आत्मा को उध्वारोहण’ आकाश में उड़ना है किंतु वह नैतिक भूमि की मजबूती बिना सम्भव नहीं है। धार्मिक बनने के लिए पहले जीवन में नैतिकता रूपी भूमि का मजबूत होना आवश्यक है।

६६. बड़ा रहना चाहे तो

२२ अक्टूबर १९९४, नोखा

व्यक्ति बड़ा या छोटा ओहदे या पद से नहीं होता और न ही ज्ञान से होता है। बल्कि बड़ा होने का मापदण्ड है आचरण। आचरण किसका, कितना संतुलित है, कितना व्यवस्थित है, कितना नैतिक है? उसी से बड़े-छोटे का निर्धारण हो सकता है किंतु बड़ा भी छोटे की अपेक्षा से है। बड़ा यदि छोटे को गिराना चाहे

तो बड़ा 'बड़ा' नहीं रह सकता। अतः यदि कोई बड़ा रहना चाहे तो उसे चाहिए कि वह छोटों का सदा संरक्षण करे। सदा उनके सुख-दुख को जाने। तभी वह बड़ा रह सकता है।

६७. वात्सल्य सापेक्ष है

२२ अक्टूबर १९९४, नोखा

कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि मुझे अमुक से वात्सल्य भाव नहीं मिलता। मुझे आत्मीय भाव, वात्सल्य भाव मिले तो मैं बहुत कुछ कर सकता हूँ, किंतु वात्सल्य भाव सापेक्ष है। वात्सल्य को ग्रहण करने वाला भी होना चाहिए। माता का पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव होता है। वात्सल्य भाव का ही प्रतीक है कि पुत्र के लिए माता के स्तनों में दूध आ जाता है, पर वह आता है पुत्र के होने से। पुत्र होने के पूर्व स्तनों में दूध नहीं आता। पुत्र हुए बिना स्तनों में आया हुआ दूध पी भी नहीं सकेगा। अतः वात्सल्य भाव के लिए पुत्र बनना आवश्यक है। ज्ञानीजनों ने शिष्य के लिए कहा है कि गुरु को वंदन करते हुए यथाजात हो जाए ताकि गुरु का वात्सल्य वह ग्रहण कर सके।

६८. दिव्य नेत्र हों

२३ अक्टूबर १९९४, नोखा

हम सत्य को जानना चाहते हैं। सत्य का दर्शन करना चाहते हैं। यह उत्तम विचार है, किन्तु इतने मात्र से सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। सत्य को देखने के लिए उसके अनुरूप आँख भी चाहिए। योग्य नेत्रों के अभाव में सत्य के दर्शन हो पाना कठिन है। सत्य हमारे हृदय में है, किन्तु ईर्ष्या एवं माया ने भी वह स्थान बना रखा है। इन दोनों के द्वारा सत्य आवृत्त हो चुका है। अतः सत्य का साक्षात्कार करने के लिए दिव्य नेत्र उद्घाटित हो, जो माया व ईर्ष्या को चीरकर भीतर तक जा सके।

६९. दोष दूर हो जाएगा

२४ अक्टूबर १९९४, नोखा

आज से पंच दिवसीय योग साधना शिविर प्रारम्भ हुआ। रतलाम के डॉ. पुरोहित ने यौगिक क्रियाओं का प्रशिक्षण दिया। डॉ. साहब से योग, आसन, प्राणायाम आदि क्रियाओं के विषय में बहुत सी बातें हुईं। आसनों के विषय में मत-मतान्तर व शोध विषयक जानकारी भी ज्ञात हुई।

शीर्षासन करने के पश्चात् शवासन के अलावा अन्य आसन नहीं करने चाहिए। आसन करते हुई कुछ गड़बड़ हो तो उसका विपरीत आसन तत्काल कर लेना चाहिए, जिससे उस आसन का दोष दूर हो जाता है।

हमारे जीवन व्यवहार में यदि गड़बड़ी हो जाय तो विपरीत क्रिया, प्रतिक्रमण, क्षमायाचना तत्काल कर लेने से उस व्यावहारिक क्रिया का दोष दूर हो जाएगा।

७०. प्रवाह – पात

२५ अक्टूबर १९९४, नोखा

बहुतायत लोग प्रवाह में बहने वाले होते हैं, भले ही वे कितने प्रबुद्ध क्यों न हों ?

७१. गंगा को आगे बढ़ावें

३ नवम्बर १९९४, नोखा

हिमालय से निकलने वाली गंगा के लिए कहा जाता है कि शिवजी ने अपनी जटा में धारण किया, फिर उसे पतली धार में प्रवाहित किया ताकि जन-जन के लिए उपयोगी बन सके। प्रभु वीर रूपी हिमालय से निकलने वाली श्रुत-गंगा को गणधरों ने अपने श्रुत कुण्ड में ग्रहण की फिर भव्यों के हितार्थ उन्होंने विभिन्न धाराओं में उसे प्रवाहित किया ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचिपूर्वक इस ज्ञान गंगा से अपने को आप्लावित कर सके, अपने को परिष्कृत कर सके। इस मायने में गणधर भगवन्तों का हमारे पर बहुत-बहुत उपकार है। वर्तमान वाचना आर्य सुधर्मा स्वामी की है। उन्होंने अनन्त करुणा कर इस गंगा को हम तक पहुँचाने का अथक प्रयास किया। इसमें पूर्वाचार्यों का भी योगदान रहा है। हम भी इस गंगा को आगे बढ़ावें, ऐसा लक्ष्य, ऐसी तत्परता रखनी चाहिए।

७२. साधना का उल्लास

२० नवम्बर १९९४, जोरावरपुरा (नोखामंडी)

रात्रि को साधना का समय अत्यन्त उल्लासमय स्थिति में व्यतीत हुआ। ७ फुट लगभग ऊँचाई। तैरना.... पानी नहीं.....।

७३. पढ़े ही नहीं पाले भी

२६ नवम्बर १९९४, कांकरिया भवन (नोखामंडी)

- अब तक हमने सिद्धान्त पढ़ा है, अब उसे प्रयोग में लाने की पहल होनी चाहिए।
- आत्म-विश्वास आवश्यक है, पर अहंमन्यता घातक है।
- जिनसे थोड़ा भी आपको सहकार मिला है उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कीजिए।
- अहंकार का जहाँ पुट है वहाँ अनात्मभाव की स्थिति है।

७४. प्रकृति का रहस्यमय प्रयोग

०२ दिसम्बर १९९४, नागौर

कालूजी का दीक्षा प्रसंग एक मात्र बहाना है। मैं यह मानता हूँ कि प्रकृति एक प्रयोग चाहती थी और आचार्य देव भी उस प्रयोग को मूर्त रूप देना चाहते थे। वह प्रयोग था कि मेरा कुछ स्वतंत्र विचरण हो, ताकि जो कुछ अपवाद हैं वे स्वतः निरस्त हो जाए। और मेरी भी आत्मविश्वास की स्थिति बन सके। संभव है आचार्य देव का भी यही चिंतन बना हो और कालूजी को दीक्षा के बहाने मेरा विहार करवाया हो। अन्यथा नोखा या अन्यत्र क्यों नहीं? दूसरा इसके पीछे एक और गहरा रहस्य भी है जो आचार्य देव की सहज अवस्था से झलका है पर वह रहस्य समय पर ही अनावृत हो सकता है। उसको स्पष्ट करने का अभी समय भी नहीं है।

७५. रक्षात्मक भाव के प्रतीक

०२ दिसम्बर १९९४, नागौर

क्षत्र शब्द रक्षा अर्थ में प्रयुक्त होता है। नक्षत्र का तापर्य नभ में रहकर रक्षा करने वाले देव। २८ नक्षत्रों में अभिजित् नक्षत्र का व्यवहार नहीं होता। २७ नक्षत्र व्यवहार्य हैं। प्रत्येक के चार चरण होते हैं। कुल मिलाकर १०८ चरण हुए। जिनको १२ राशियों में विभक्त किया गया है। उसी के आधार पर नामकरण किए जाते हैं। इस दृष्टि से माला के मणके भी १०८ हो तो यह रक्षात्मक भाव का प्रतीक है।

७६. मन वचन काय कुंजी

०४ जनवरी १९९५, भीनासर

मन	-	बच्चों की तरह सरल
वचन	-	युवा की तरह ओजस्वी
आचरण	-	वृद्ध की तरह यतना व विवेकपूर्वक

७७. महत्त्वाकांक्षा

०६ मई १९९५, भीनासर

महत्त्वाकांक्षा जीवन निर्माण के लिए आवश्यक अंग भी कही जा सकती है। पर व्यक्ति को उसके अधीन नहीं होना चाहिए। अधीन होने का तात्पर्य है कि महत्त्वाकांक्षाओं की संपूर्ति के अभाव में हताश-निराश हो जाना। भीतर ही भीतर टूट जाना। मस्तिष्क में एक प्रकार का बोझ सा लगना/जीवन दीप बुझता हुआ सा लगना। ऐसी अवस्थाएँ जहाँ बन जाए तो वहाँ महत्त्वाकांक्षा का घेरा इतना सघन हुआ समझना चाहिए कि व्यक्ति उसमें से अपने आपको उबार पाने में अक्षम हो जाता है।

७८. स्मरणीय से तादात्म्य

०६ मई १९९५, भीनासर

आचार्य देव की स्मृतियों के साथ में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता हूँ। स्मृति पुरुष की स्मरणीय अवस्था के तादात्म्य स्वरूप की अभिव्यक्ति या उपस्थिति ही स्मृतियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना है।

७९. कर्तव्य के प्रति निष्ठा

६ मई १९९५, भीनासर

मानवीय वृत्ति दुर्मुख-सुमुख के स्वरूप वाली है। अतः व्यक्ति को बहाव या हवा में नहीं बहना चाहिए। उसे आत्म-निष्ठा पूर्वक स्व-कर्तव्य कर्म को सन्मुख रख दृढता से कदम बढ़ाना चाहिए। दुनियाँ हँसे तो परवाह नहीं दुनियाँ प्रशंसा करे तो अटकना नहीं। केवल अपने कर्तव्य भाव को सन्मुख रख तदनु रूप आचार, विचार और व्यवहार का चिंतन-उपादेय हो सकता है।

८०. संघीय मर्यादाओं का उल्लंघन

हितावह नहीं

१३ मई १९९५, भीनासर

तीर्थंकर देव प्रभु महावीर ने चार तीर्थ रूप संघ की स्थापना की। संघ की व्यवस्था दी। संघ की व्यवस्था का उद्देश्य स्पष्ट है कि छोटे-मोटे सभी साधक अनुशास्ता के नेतृत्व में रहते हुए आत्मसाधना का मार्ग प्रशस्त कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु संघ की आचार्य, उपाध्याय आदि की भी व्यवस्था दी। ताकि सुन्दर तरीके से अनुशासनबद्ध स्थिति से व्यवस्था संचालित हो व सभी साधक आत्मभाव की अनुभूति प्राप्त कर सकें।

इस सन्दर्भ में यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि साधक छद्मस्थ है। त्रुटि होना स्वाभाविक है। पर उसके लिए प्रभु महावीर ने आलोचना विधि का निर्देश दिया है। त्रुटि की आलोचना नहीं करके धींगा मशती, अथवा स्वच्छन्दता से संघीय मर्यादाओं का उल्लंघन करना संघ के लिए कतई हितप्रद नहीं है। बल्कि वह संघीय व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करना, उसका उच्छेद करना है। ऐसा व्यवहार महा मोहनीय कर्म का प्रसंग उपस्थित करता है।

८१. तटस्थ व सहज चिन्तन से हल

२४ मई १९९५, करौली

प्रशासनिक व्यवस्थाओं में नित नए अनुभव होते रहते हैं। छोटे से परिवार में रहने वाले सदस्यों का निर्वाह करना जहाँ कठिन काम है वहाँ वन-वन की लकड़ियों की भांति अनेक परिवारों के सदस्य जो साधना मार्ग में अग्रसर हैं उनके विचारों में समता, वीतरागता के भाव गहरे बने। इस दृष्टि से प्रयत्न करते समय स्वयं का तटस्थ व सहज भाव में प्रविष्ट होना आवश्यक है।

परिस्थितियों के आधार पर जो अनुभव होते हैं वे कभी-कभी उद्विग्न भी करने वाले होते हैं क्षणिक चिंतन उभरता भी है पर तटस्थ भाव से चिंतन करने पर परिस्थितियाँ हल भी हुई हैं व होती रही है।

८२. शासन हित सर्वोपरि

२४ मई १९९५, करौली

कल स्थविर प्रमुख श्री शान्तिमुनिजी म.सा. को उनके सिंघाड़े की व्यवस्था के रूप में तीन विकल्प लिखवाए, उसमें एक विकल्प श्री राजेशमुनि जी का भी था। उस विकल्प पर जो विभिन्न विचार सामने आए उन सब पर चिंतन चलता रहा। अन्तरात्मा में दृढ निश्चय झलक रहा था कि यदि स्थविर प्रमुख श्री को वह विकल्प जमता हो तो उस विकल्प को जमा देना ही उचित है। उस विकल्प को जमाने के साथ ही साथ व्यवस्था विषयक अन्य विकल्प भी उभरे उनका समय पर उपयोग संभव है जो शासन की दृष्टि से हितकर सिद्ध होंगे। यद्यपि राजेश मुनि की मेरे साथ आवश्यकता को मैं अनुभव करता हूँ। मेरी आवश्यकता के बजाय शासन हित प्रमुख है। अतः उसी दृष्टि से यह चिंतन दृढीभूत बना।

८३. “स्वाध्याय” : अध्यात्म की आत्मा

०९ जून १९९५, पुलु

भोजन का रस बनने व पाचन होने पर शरीर में शक्ति का संचार होता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान अध्ययन हो, स्वाध्याय हो, स्वाध्याय के पश्चात् उस पर चिंतन-मनन हो तो श्रद्धामय शक्ति का संचार होता है। श्रद्धा दृढ़ बनती है। यदि स्वाध्याय नहीं, तो चिंतन-मनन की विशालता होना कठिन है। चिंतन, मननपूर्वक विषय को हृदयंगम किये बिना श्रद्धा भी गहरी/दृढ़ होना कठिन है। अतः स्वाध्याय हमारे अध्यात्म की आत्मा है।

८४. निपुणता से कार्य सम्पादन का अवसर दें

०९ जून १९९५, पुलु

जिसको अध्यक्ष आदि के रूप में अगुआ बनाया गया है उसे सहकार देना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य होता है। उसे माला पहनाई जाती है। भारतीय संस्कृति में माला पहनने व पहनाने वाले वर-वधू का पारस्परिक सहकार भाव जीवन-पर्यन्त का बन जाता है। वे हमेशा एक दूसरे के सहयोगी बने रहते हैं। दुःख-सुख में एक-दूसरे के साथी बने रहते हैं। वैसे ही माला पहनाकर समाज ने अपने अगुए के साथ पारस्परिक सद्भाव की प्रतिज्ञा व्यक्त की है। अतः सभी को पारस्परिक भाव से चलना चाहिए। यदि कहें कि अध्यक्ष सब को साथ लेकर नहीं चलते, अपनी मनमानी करते हैं तो उनका साथ कैसे दें? इस पर मेरा कहना है कि जिसको भी प्रमुख पद पर चयनित किया उसे योग्य समझकर किया या अयोग्य समझकर? यदि योग्य समझकर उसे आगेवान बनाया गया है तो उसकी योग्यता का लाभ भी उठाएँ। उसे अपनी योग्यता के अनुसार काम करने का मौका दें, क्योंकि कभी-कभी अग्रगण्य व्यक्ति को तत्काल निर्णय भी लेना पड़ता है जो उसकी सूझबूझ की क्षमता पर भी आधारित हो सकता है। यदि कहा जाए कि अध्यक्ष के लिए गलत व्यक्ति का चयन हो गया तो वैसी स्थिति में भी उसको अकेले नहीं छोड़ा जा सकता। क्योंकि वह अपनी अयोग्यता से क्या कुछ कर बैठे, अतः सदैव उसके इर्द-गिर्द बने रहना आवश्यक है। कदाचित् वह कोई गलत मार्ग अख्तियार करे तो समय पर सही मार्ग दिखाया जा सके। उसका सड़क पर चलना ठीक है, पर वह पगडंडी के

मार्ग पर चलने लगे तब भी उसका साथ नहीं छोड़ें, बीच में जहाँ भी मार्ग अवरूद्ध होगा वहाँ आपके चिंतन को मौका मिलेगा। वहाँ उसे सही दिशा व मार्ग का बोध करवाना आपका सच्चा कर्तव्य होगा।

अतः जिसे जो कार्य सौंपा गया है उसे अपनी निपुणता से कार्य सम्पन्न करने का अवसर भी देना चाहिए।

८५. निराकुलता साधना का मर्म

१७ अगस्त १९९५, बीकानेर

उद्वण्डता, शेखी बघारना आदि की प्रवृत्तियों को सह्य कर पाना अत्यन्त कठिन है। ऐसी प्रवृत्तियों के प्रति संघर्ष की स्थितियाँ निर्मित हो जाना सहज-स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में संतुलन बनाए रखना जरूरी है। यदि संतुलन बिगड़ गया तो स्थिति काफी गम्भीर हो सकती है। उस समय की स्थिति का एक दृश्य को केवल झलक रूप में ही अनुभव किया जा सकता है। नियम की स्खलना व लापरवाही के प्रति जो अनुभूति होती है वह शुभ है पर उसकी प्रवृत्ति संशोधनीय है। प्रवृत्ति में संक्लिश्यमान भाव तिरोहित होने चाहिए। हर स्थिति में निराकुल रहना, साधक की साधना का मुख्य अंग है।

८६. अहंकार में अन्वेषण

१७ अगस्त १९९५, बीकानेर

हम जैसा सोचते हैं, वैसा व्यवहार कर नहीं पाते, बीच में रुकावटें आ जाती हैं। बाधाएँ आ जाती हैं। बाधा के रूप में जो अवस्था है उसे एक प्रकार से अहंकार की संज्ञा दी जा सकती है। वह कहता है तुम न्याय पक्ष में हो तुम्हें अपने सैद्धान्तिक धरातल पर अटल रहना चाहिए। तुम्हें झुकने की क्या आवश्यकता है? तुम दृढ़ रहो। इस अहंकार को स्वाभिमान का जामा भी पहना दिया जाता है। उसे सात्विक अवस्था भी अभिसंज्ञित कर दी जाती है। पर वस्तुतः उसका स्वरूप संक्लेश रूप में हो तो उसे क्या समझना? यह साधकों के लिए अन्वेषणीय विषय है। जो मात्र ऊपर-ऊपर के विचारों से संभव नहीं है।

८७. अर्ह का अर्थ गाम्भीर्य

२३ सितम्बर १९९५, भीनासर

‘अर्ह’ यह पद साधना के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें जिन अक्षरों की संयोजना है वह अति गाम्भीर्य पूर्ण है। ‘अ’ यह सकल सद्भूत पदार्थों का सूचक है। सद्भूत पदार्थों का तात्पर्य उत्पन्न, विनाश व ध्रौव्य अवस्था जिसमें हो। ‘अ’ में उक्त तीनों अवस्थाएं संग्रहीत हैं। ‘अ’ के अनेक अर्थों में ब्रह्मा-विष्णु व महेश अर्थ भी लिए गए हैं। ‘ब्रह्मा’ उत्पत्ति का सूचक है, विष्णु विद्यमानता का सूचक है व ‘शंकर’ विनाश का प्रतीक है। इस दृष्टि से ‘ब्रह्मा’ उत्पाद का प्रतीक है, विनाश का प्रतीक ‘शंकर’ है व पदार्थों की विद्यमानता सूचक ‘विष्णु’ होता है। ये तीनों अवस्थाएँ ‘अ’ में निहित हैं। साथ ही अक्षरश्रुत में जितना भी श्रुत गृहीत है। उसका भी संकेत ‘अ’ से ध्वनित होता है। नंदी सूत्र में द्वादशांगी को अक्षय-अव्यय कहा है। ‘अ’ यह अक्षय का प्रतीक है। अतः इसमें समग्र श्रुतज्ञान समाविष्ट हो जाता है। पाणिनीय व्याकरण में ‘अ’ के १८ रूप माने हैं, उसे १८ दोषों का प्रतीक समझा जा सकता है। ‘र’ यह अग्नि तत्व का बीज रूप है जो ज्योति का प्रतीक है। ज्योति को प्रकट करने वाला है। इस ज्योति के प्रकट होने पर ‘ह’ विकारों के नाश का प्रतीक है। इसे हम निर्जरा तत्व के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। ‘ह’ की ध्वनि होने पर भीतर के विकार बाहर आने का संकेत प्राप्त होता है। ‘र’ से ज्योति प्रकट होने पर अपने विकारों का ज्ञान होता है साधक विकारों को देख पाता है। वे ही विकार ‘ह’ के द्वारा मुख खोलकर बाहर किये जाते हैं। वे ‘म’ के द्वारा संवर तत्व के रूप में पुनः उन विकारों के प्रवेश का निषेध है। ‘म’ की ध्वनि से मुख बन्द होता है यह संवर का स्वरूप है।

८८. धर्म का फल: भविष्य में या अभी ?

३० नवम्बर १९९५, भीनासर

‘धर्म परलोक में काम आएगा’ यह धारणा भ्रान्ति युक्त है। मानव की मनोवृत्तियों में परिग्रह की भी एक वृत्ति है। उसी वृत्ति के कारण जैसे वह धन, रुपये, पैसे, यश आदि का संग्रह करता है वैसे ही वह मानता है कि धर्म का फल भविष्य (परलोक) में प्राप्त होगा ऐसा मानकर वह धर्म को भविष्य के लिए संग्रह

करता रहता है। यही कारण है कि वह वर्तमान में उसका लाभ उठा नहीं पाता है। जबकि भगवान महावीर का फरमाना है कि धर्म का फल वर्तमान में ही है। 'सोही उज्जुय भूयस्स' यहाँ 'ऋजु' भाव वाले की शुद्धि कही है। जो वर्तमान का संकेत है। अतीत के स्मरण व अनागत के चिंतन बिना जो वर्तमान कालिक अध्यवसाय होंगे वे सरल होंगे। भूतकाल की इच्छाओं का प्रतिक्रमण, वर्तमान की इच्छाओं का संवर व भविष्यकालीन इच्छाओं का त्याग करने का कहा है। इससे भी वर्तमान का संकेत फलित होता है।

अतः धर्म को भविष्य व परलोक के लिए आवश्यक नहीं मानकर वर्तमान में ही उसका लाभ होता है ऐसा मानते हुए उसका अनुभव करना चाहिए।

८९. अनुभूति

११ जनवरी १९९६ भीनासर, जवाहर विद्यापीठ

साधना के क्षणों में जो अनुभूतियाँ हुई वे अनिर्वचनीय हैं। सर्वप्रथम प्रकाशपुंज सूर्य का अवतरण होता है। तत्पश्चात् एक नीले रंग का बिन्दु अत्यन्त भास्वान् फिर उसमें से ज्योतिर्मय किरणों का विकीर्ण होना। आनन्द से रोम रोम पुलकित होना। एक भव्य दिव्य रूप का उभरना कुछ क्षणों में अन्य भी दिव्य रूपों का उभार। अनहद नाद। आत्मा किसी अगम देश – दिव्यलोक में यात्रा कर रही थी शरीर आत्मा की भिन्नता। शरीर की क्रियाएँ शून्य यानि शारीरिक व्यापार की तरफ पूर्ण अनभिज्ञता।

९०. आकांक्षा रहित साधना तेजस्वी

१२ जनवरी १९९६, भीनासर

ऐसा आभास (११ जनवरी १९९६ के चिन्तन में उक्त) व अन्य रूप से कई आभास समय-समय पर होते हैं। पर प्रतिदिन उसी प्रकार का आभास हो ऐसा नहीं होता है। कल के दृश्य को प्राप्त करने की आज की साधना में आकांक्षा रही पर वैसा उपलब्ध नहीं हुआ। वस्तुतः भूल यह रही कि साधना में आकांक्षा को जोड़ दिया। जबकि साधना आकांक्षा रहित सहज-स्वाभाविक होनी चाहिए। उसे यदि आकांक्षा के साथ जोड़ा जाता है तो साधना में वह तेज वह ओज आ नहीं सकता। अतः साधना-आराधना में प्राप्ति की आकांक्षा न हो अपितु जो

हमने जोड़ रखा है, संग्रह कर रखा है उसे ढीला करें, उसे दूर करें उसका त्याग करें, यह भाव होना चाहिए उससे साधना में चमक आती है।

९१. आगम अध्ययन संविधा

१२ जनवरी १९९६, भीनासर

आगमों के अध्ययन में सतत् अवधानता संयम की अभिरूचि को बढ़ाती है पर आगमों का अध्ययन विधिपूर्वक भक्ति व बहुमानपूर्वक होना चाहिए। शास्त्रों के अध्ययन के साथ-साथ उपधान तप का उल्लेख आता है। उसका तात्पर्य अध्ययन के साथ-साथ जीवन में उसका आचरण भी हो, क्योंकि रसगृद्ध आत्मा को आगम ज्ञान का अधिकारी नहीं माना गया है। अतः रस विजय रूप उपधान, आयम्बिल तप आगम अध्ययन के साथ-साथ होना चाहिए। आगम अध्ययन विधि –

- गुरु व ज्ञान के प्रति आस्था, भक्ति, बहुमान।
- गुरु की सेवा, सुश्रूषा ज्ञान को फलवान बनाती हैं।
- रस परित्याग
- अल्प-निद्रा
- अवमौर्दर्य तप
- योग-ध्यान की प्रतिदिन सेवना।

९२. मूल मनोवृत्ति पर विजय

१३ जनवरी १९९६, भीनासर

जो मनोवृत्तियाँ चिर संचित होती हैं उनसे छुटकारा पाना अति कठिन कार्य है। दृढ़ मनोबली महात्मा भी उन मूल मनोवृत्तियों के समक्ष स्वयं को निरुपाय मान लेते हैं। मूल मनोवृत्तियों का समय-समय पर भार होता है। उनसे होने वाली अवस्थाओं से विज्ञ होते हुए वे उन मनोवृत्तियों पर विजय पाने के कारगर उपायों से भी अवगत होते हैं पर उभार के समय वे सारे अवस्थाजन्य ज्ञान एक प्रकार से लुप्त हो जाते हैं। उस समय मूल मनोवृत्ति का ही साम्राज्य व्यापक हो

जाता है। अन्ततोगत्वा वह एकबार के लिए पुनः हताश-निराश हो जाता है। मूल मनोवृत्ति जब अपना काम कर चुकती है तब पुनः वह सोचता है कि अब ऐसा नहीं होने दूँगा पर वह भी उसी समय तक जब तक मूल मनोवृत्ति धावा नहीं बोल देती। अतः मूल मनोवृत्ति को दूर करने के लिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को ध्यान में रखकर मनोबल को बहुत दृढ़ बनाना आवश्यक है।

९३. आत्मिक आनन्द का सूत्र पाँच समितियाँ

१४ जनवरी १९९६, भीनासर

पाँच समितियों का पालन/आचरण यह श्रेष्ठ/उत्तम जीवन शैली है। इस प्रकार से जीवन जीया जाए तो व्यक्ति के जीवन में किसी तरह का तनाव-टेन्सन आदि का प्रसंग ही नहीं रह सकता। जीवन में आनन्द का स्रोत, शांति का झरना प्रवाहित होने लगेगा।

पाँच समितियों में प्रथम ईर्या समिति है। उसमें आत्मानुशासन की गहरी निष्ठा है। ईर्या समिति वाला इस दृढ़ मानसिक संकल्प से जीता है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की अभिवृद्धि अथवा सुरक्षा का प्रसंग होने पर ही वह अपना चरण-विन्यास करेगा और चरण विन्यास में भी यह संकल्प रखता है कि उस समय चलने की क्रिया के अतिरिक्त उसका कोई ध्येय वही है न वार्तालाप करना और न मन में कल्पनाओं की उड़ान भरना, और न ही इधर-उधर के दृश्यों में चित्त को लगाना। बस उसका एक मात्र ध्येय चलना है। चलने की क्रिया में ही वह अपना सारा उपयोग नियोजित करता है। इसी तरह भाषादि समितियों के विषय में साधक जागृत हो साधनामय जीवन से आनन्द की अनुभूतियाँ कर सकता है। बिना इनकी साधना के कोई चाहे मैं आनन्द से भर जाऊँ यह असंभव है। एक वर्ष तक आगम विद्या के अनुसार पाँच समितियों की आराधना करके साधक अनुत्तर विमान के तेज से भी बढ़कर विशुद्धतर लैश्या के साथ आत्मिक सुख से समृद्ध हो सकता है।

९४. अनुभूति रहित अभिनय

१५ जनवरी १९९६, भीनासर

आध्यात्मिक अनुभूतियों के बिना कोरा ऊपर-ऊपर से जीया जाने वाला साधनामय जीवन व्यक्ति के जीवन को रूपान्तरित नहीं कर सकता। बल्कि उसके जीवन में विकारों के प्रवेश के प्रसंग बन जाया करते हैं। वह अपनी ऊपरी साधना के लेवल को मापदण्ड बनाकर चलता है जो कि प्रायः दोहरा या डुप्लीकेट दिखावा होता है। आन्तरिक स्थितियाँ उससे बहुत भिन्न होती हैं। दुनिया में दिखावे के लिए ऊपरी साधना के साथ आन्तरिक अवस्था को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न में भाव सत्य रह नहीं पाता। भाव सत्य को भुलाकर बचाव के लिए शब्दाडम्बर को माध्यम बनाकर सोच लेता है कि मैं अपने आपको सही रूप में उपस्थित कर पाया हूँ। पर यह एक प्रकार से अभिनय का ही रूप है। रंगमंच उस प्रकार का भले ही न हो पर यह विश्व ही रंगमंच है।

९५. शब्द चयन का कौशल

१९ जनवरी १९९६, भीनासर

मानव स्वभाव कटुता को पसन्द नहीं करता है। कठोर, कटु शब्द भी उसके हृदय-तंत्र को छेदन करने वाले बन जाते हैं। वहीं मधुर कोमल शब्द व्यक्ति के हृदय को प्रभावित करते हैं। कठोर शब्द से हृदय में भय व्याप्त हो सकता है पर प्रेम-अनुराग नहीं। प्रेम अनुराग का झरना पारस्परिक संबंध से प्रवाहित होता हुआ आदान-प्रदान से बढ़ता है। जैसे खोटा सिक्का बाजार में इज्जत को घटाने वाला होता है। खरा सिक्का इज्जत को बरकरार रखने वाला व बढ़ाने वाला होता है। वैसे ही अच्छा शब्द इज्जत बढ़ाने वाला होता है। शब्दों का उच्चारण करने के पूर्व शब्द भण्डार में से शब्दों का चयन कर जो मधुर व दूसरों को जोड़ने वाले हो ऐसे शब्दों का प्रयोग करना सीखें।

९६. 'ऊर्ध्वारोहण'

२५ जनवरी १९९६, भीनासर, जवाहर विद्यापीठ

साधना के क्षणों में ऊर्ध्वारोहण क्रम के साथ-साथ पूरा हॉल दिव्य प्रकाश से भर गया। ऊर्ध्वारोहण-अवरोहण का क्रम भी बड़ा आकर्षक था। एक गोल डंडाकार ऊपर उठता है, उसके साथ चेतना का आरोहण होता है, एक बार बहुत गहराई में उतरना हुआ उस समय सहसा क्षणिक भय की अनुभूति हुई फिर, सामान्य स्थिति बन जाती है। बहुत-सी अनुभूतियों को तो शब्दांकित करना ना मुमकीन है।

९७. 'उपदेश' आचरण से

२५ जनवरी १९९६, भीनासर

प्रारम्भ में कुछ अमनस्कता रही। बाद में चित्त की प्रफुल्लता रही। चेतना का लगभग ८-२० फुट तक उर्ध्वा रोहण आनन्द का स्रोत। हमारा आचरण ही उपदेश होना चाहिए न कि कोरा उपदेश। आचरण से जो उपदेश होगा वह अपूर्व होगा, अद्भुत होगा। आज दुविधा यह है कि उपदेश तो बहुत जोश-खरोश के साथ होता है पर जिन कमजोरियों के लिए श्रोताओं को ललकारा जाता है, वक्ता कमोबेश उन कमजोरियों से स्वयं ग्रस्त होता है तो बताइये वह उपदेश कितना कारगर हो सकता है? यह चिंतन का विषय है। अतः पहले हम जीना सीखें। जीने से जो अनुभव प्राप्त हो वह अन्यों को दें तो वह विषय प्रत्येक जन-जन के लिए हितकारक व पथ्य बन सकता है।

९८. जैसी सामग्री वैसा निर्माण

२२ मार्च १९९६, बीकानेर

मन को जैसी सामग्री प्राप्त होगी उसी प्रकार के विचारों का निर्माण होगा। एक व्यक्ति यदि निरन्तर आगमों के अध्ययन मनन परिशीलन में लगा रहता है तो उसकी भाषा शास्त्रीय भाषा बन जाती है। बड़ों के प्रति उसमें विनय व बहुमान समाविष्ट होगा। वहीं दूसरी ओर यदि अखबारी दुनिया व समाचार एजेन्सियों से कोई गुजरता है। उन्हीं के मनन व अनुशीलन में अनुरक्त रहता है

तो उसको भाषा पार्टी पॉलिटिक्स की होगी। तोड़-फोड़ की होगी। हड़ताल व धरना जैसे स्वर अनुगुंजित होंगे। व्यवहार में दुराग्रह-कदाग्रह होगा। अपनी बात को जमाने के लिए अपने स्वर में ओरों का स्वर भी मिलाने के लिए वैसे ही कुछ व्यक्तियों को तैयार करने का प्रयत्न होगा। स्वस्थ जीवन में अखबारी भाषा कितनी हानिकर हो सकती है यह अनुभव किया जा सकता है। आज साधुओं में बढ़ता अखबारी माहौल वस्तुतः चिंतनीय है। भगवान् ने साधुओं के लिए चार विकथा का निषेध किया है। अतः उनसे बचते हुए स्वयं को स्वाध्याय में नियोजित करना चाहिए।

९९. सारल्य में सद्गुणों का प्रस्फुटन

१३ अप्रैल १९९६, बीकानेर

आज साधना का स्वरूप मात्र पोशाक तक रह गया है। सामायिक की पोशाक पहनने मात्र से सामायिक की साधना नहीं होती वैसे ही साधु जीवन की पोशाक मात्र साधु जीवन नहीं है। अपितु साधना में सत्य-अहिंसा में स्वयं को निमग्न करना साधना है। साधु पोशाक पहनकर सांसारिक प्रपंचों में रचने-पचने वाला यथार्थ में साधु नहीं है।

माया-छल प्रपंच जहाँ विद्यमान है वहाँ सद्गुणों का प्रकटीकरण अथवा प्रस्फुटन सम्भव नहीं है क्योंकि बीजों को भी उगने के लिए योग्य भूमि की अपेक्षा होती है। वैसे ही सद्गुणों के प्रस्फुटन हेतु जीवन में सारल्य अपेक्षित है।

१००. कथ्य के त्रिरत्न

०३ जुलाई १९९६, श्री बालाजी

कोई भी बात किसी को कहनी है। उसमें तीन बिन्दुओं का ध्यान रखना चाहिए। जो बात कही जा रही हो

- १) आत्मविश्वास पूर्वक कही जाए,
- २) शान्त भाव से कही जाए,
- ३) उसका विश्लेषण ध्येयपूर्वक किया जाए।

इस प्रकार से कही गई बात दूसरों पर प्रभावोत्पादक होती है। अन्यथा आत्मविश्वास के अभाव में व उत्तेजनापूर्वक कही गई सत्य बात भी विश्वासोत्पादक नहीं हो पाती।

१०१. 'स्मृति'

२१ जुलाई १९९६

दिनांक १९-२०-२१ इन तीनों दिनों में आचार्य भगवन की स्मृतियों का अम्बार ही लग गया। पता नहीं क्यों रह - रह कर स्मृतियों में तीव्रतम उभार आ रहा था। हृदय गमगीन होता रहा। मन झलकियों में खो रहा था। दिल आचार्य भगवन की अत्यन्त निकटता का अनुभव कर रहा था। लग रहा था की आचार्य प्रवर की चरण परिधि में ही बैठा हुआ हूँ। ऐसी स्मृतियाँ इस प्रवास में प्रथम अनुभूति हुई।

१०२. दान या दाँव

२४ जुलाई १९९६, पुदुकोली

“दान दिया धन ना घटे” इस पद पर चिंतन करते हुए लगा कि दान देने वाला देवता हो जाता है। जबकि दाँव खेलने वाला दानव बनता है। दान की श्रेष्ठता पात्रता के आधार पर तय की गई है। सुपात्रदान, अभयदान को सर्वश्रेष्ठ दान माना गया है। वहीं श्रावक व सम्यग्दृष्टि को दिया गया दान मध्यम दान की श्रेणी में आता है। जिस दान के पीछे व्यक्ति दाँव खेलता है कि अमुक मकान पर, अमुक हाल पर, अमुक कमरे पर नाम का पटिया लगे तो अमुक मात्रा में राशिदान कर सकता हूँ। इस प्रकार की भावना में दान गौण हो जाता है, नाम का दाँव प्रमुख हो जाता है।

अतः दान देने वाला मानव देवता व दाँव खेलने से वह दानव बन सकता है।

१०३. प्रवाहपाती अवस्था

१४ अगस्त १९९६, निम्बाहेड़ा

मनुष्य तृष्णा व वासना रूपी दो पाटों के बीच पिसता जा रहा है। उसका स्वयं का स्वरूप विलुप्त-सा होने लगा है। मानवता का झरना उसके फौलादी हृदय से प्रवाहित ही नहीं हो पा रहा है। यह स्थिति कहाँ तक पहुँचेगी? इसके क्या परिणाम आ सकते हैं? इस ओर से विमुख बना हुआ मनुष्य प्रवाहपात में बहने में ही आनन्द मना रहा है। जबकि वहाँ सुख भी नहीं है। मात्र सुखाभास है। उसी सुखाभासी मृग मरीचिका में वह बेभान बना हुआ है।

मानव! जरा करवट ले, शव की तरह पड़े रहना, प्रवाहपाती होना तेरा स्वभाव नहीं है।

१०४. स्व में स्व का प्रवेश

(निम्बाहेड़ा)

धर्म का स्वरूप स्वभाव है। अपने स्वभाव से हटकर जैसे ही पर के प्रति आकृष्ट होता है वहीं स्वयं विकृत हो जाता है। आत्मा जब भी पर की आकांक्षा करती है वह आकांक्षा सुख की अभिलाषापूर्वक होती है, पर घटित विपरीत होता है, वहाँ सुख नहीं दुःख होता है। अतः अपने धर्म से जो हटता है च्युत होता है उसमें विकार प्रवेश कर जाएगा, वह तनाव ग्रस्त होगा। इसलिए धर्म की आराधना का अर्थ है—

स्व में स्व का प्रवेश होना।

१०५. नमन की भावधारा कैसी ?

०८ सितम्बर १९९६, निम्बाहेड़ा

जब हम नमस्कार करते हैं तब नमस्कार अरिहंतों के लिए नहीं अपितु स्वयं के लिए होता है। क्योंकि उसका परिणाम स्वयं को प्राप्त होता है। अरिहंत निमित्त है। हमारा नमन अरिहंतों की दिशा में, अरिहंतों की तरफ होना चाहिए। ताकि अर्हता हमारे भीतर में प्रविष्ट हो सके। जैसे कुएँ से पानी निकालने के लिए बाल्टी को पानी की तरफ नमाना होता है। वैसे ही 'नमो अरिहंताणं' कहते हुए हमारी मानसिक वाचिक व कायिक अवस्था के साथ-साथ भावधारा भी पूर्णतया अरिहंतों के गुण प्राप्ति की तरफ झुकी हुई होनी चाहिए तभी वह नमन पापों का नाश करने में समर्थ होता है।

१०६. प्रतिज्ञा कवच

०९ सितम्बर १९९६, निम्बाहेड़ा

भंते! दाँत कठोर हैं चबाने की मेहनत करते हैं पर पदार्थों के स्वाद से वंचित रहते हैं। जबकि जिह्वा कोमल है ज्यादा मेहनत नहीं करती फिर भी वह स्वाद का मजा लेती है। इसका क्या कारण है?

वत्स! दाँत की भाँति प्रतिज्ञा सूत्र है प्रतिज्ञा सूत्रों का पालन कठिनता से होता है उसके लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है। पर उससे जो आनन्द मिलता है वह उन सूत्रों को नहीं, आत्मा को मिलता है। प्रतिज्ञा रूपी कठोर दाँतों रूपी सुरक्षा कवच से ही जिह्वा रूपी आत्मा कोमल हो पाती है। सरल हो पाती है और उसकी सुरक्षा हो पाती है। अतः प्रतिज्ञा कवच को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

१०७. हवाला भीतरी भी

०९ सितम्बर १९९६,

आज सुना जा रहा है हवाला काण्ड ने देश को जर्जरित कर दिया है। वह किसी रूप में सत्य हो भी सकता है। पर स्वयं चिंतन करें हमने कितने हवाला काण्ड किए हैं? हमारे मन ने, हमारे वचन ने, हमारी काया ने कितने-कितने हवाला काण्ड करके आत्मा को सताया है। आत्मा को जर्जरित किया है, त्रस्त किया है। अतः केवल बाहर के हवाला काण्ड पर ही हमारी दृष्टि केन्द्रित न हो, अपने भीतर घटित होने वाले हवाला काण्डों की तरफ अपनी जागरूकता वर्ते, यही श्रेयस्कर है। साथ ही निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति में ऐसे हवाला काण्ड घटित न हो इस दिशा में प्रत्येक सदस्य को जागरूक रहने की अपेक्षा है।

१०८. अभयदान स्वसापेक्ष

०९ अक्टूबर १९९६, निम्बाहेड़ा

अभयदान सभी दानों में श्रेष्ठ है। अभयदान का एक मात्र यही अर्थ नहीं है कि मरते जीव को बचा लिया जाय, अथवा किसी जीव को मारा नहीं जाय। इसका कारण है कि हमने अपने पास बारूद भर रखा हो तो दूसरों को अभय कैसे दे सकते हैं, क्योंकि जहाँ बारूद है वहाँ भय है, जो स्वयं अभय नहीं वह

दूसरों को क्या अभय दे सकता है? हमारे पास कोई वस्तु हो तभी तो हम किसी को उसमें से कुछ दे सकते हैं। जो वस्तु हमारे पास ही नहीं हो उसे हम दूसरों को कहाँ से दे सकते हैं? कवि आनन्दघन जी ने भी श्री श्रेयांसनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहाँ है – ‘अभयदान ते मल क्षय करुणा’ अभयदान वह जो कर्म रूपी मल के क्षय होने से पैदा होता है। कर्म रूपी मल के क्षय से हम अपनी आत्मा को भयमुक्त करते हैं— वही अभय है। अतः अभय का अर्थ केवल पर सापेक्ष नहीं होकर स्वसापेक्ष होना अधिक संगत प्रतीत होता है।

१०९. अलविदा

१० अक्टूबर १९९६, निम्बाहेड़ा

अब तक हम अनादि के प्रवाह में हैं। इसका कारण है हमने स्वयं को सीमित बनाए रखा। हमारी आशा, तृष्णा, महत्वाकांक्षा नए-नए घर व नए-नए परिवेश बनाती रही और हम उसके जाल में उलझते रहे, फँसते रहे। हमारी दृष्टि ससीम बनी रही। खुले आकाश को हमने कभी नहीं निहारा। हमने कुँए को ही सब कुछ समझा पर जब आत्मा का बोध हुआ, वह तृष्णा, आशा, महत्वाकांक्षा आदि के स्वरूप की ज्ञाता बनी तब वह अनन्त में प्रवेश कर जाती है। उस क्षण में हम अपनी तृष्णा, महत्वाकांक्षा से कहेंगे – हे तृष्णे! अब तक तुम्हारे कारण हम अनादि के प्रवाह में बह रहे थे, लेकिन अब हमारे लिए तुम्हें नए घर बनाने की आवश्यकता नहीं। नया परिवेश खोजने की आवश्यकता नहीं। अब हम ससीम नहीं हैं। अब हमने अनन्त में प्रवेश कर लिया है। अनन्त— जिसका कोई अन्त नहीं, जिसकी कोई सीमा नहीं। अतः अब हमारी दृष्टि सीमित नहीं हो सकती।

तुम्हारे कारण से हम अनादि के प्रवाह में बह रहे थे पर अब भ्रम जाल से मुक्त होकर हम अनन्त की यात्रा पर कदम बढ़ा रहे हैं अतः यात्रा से पूर्व तुम्हारे से अलविदा..... अलविदाअलविदा.....।

११०. छोटी सी त्रुटि

१९ जून १९९७, नागदा

छोटी-सी त्रुटि कितना भयंकर रूप धारण कर सकती है यह सोचा नहीं जा सकता है। जैसे छोटी-सी चिनगारी को ईंधन रूप सामग्री मिल जाए तो थोड़ी ही देर में पूरे सजे संवरे नगर को भस्म कर देती है। ठीक वैसे ही छोटी सी गलती भी जीवन के सुख को नष्ट-भ्रष्ट कर सकती है। द्रोपदी की छोटी सी व्यंग्योक्ति महाभारत का कारण बन गई। अतः छोटी सी दिखने वाली गलती/त्रुटि को भी तत्काल दूर करने का लक्ष्य रखना चाहिए।

१११. संवर : आत्म सम्पदा का ताला

२८ जून १९९६, गोगापुर

‘संवर’ का अर्थ आस्रव निरोध लिया जाता है। यथा-‘आस्रवनिरोधः संवरः’ किंतु चिंतन करते हैं तो संवर का आत्मपरक अर्थ होगा आत्मा के गुणों का संवरण करना।

‘संवृत योनि’ का अर्थ ‘ढकी हुई योनि’ किया जाता है। कहते हैं वैसे ही ‘संवृत’ अणुगार का भी उल्लेख श्री भगवती सूत्र में प्राप्त होता है। संवृत यानि जिसने आत्मा को आवृत कर ढक लिया है, संवृत कर लिया है ताकि आत्मा के गुणों को कोई चुरा नहीं सके-चुराने का तात्पर्य उन्हें तिरोहित नहीं कर सके। पानी गिरने पर लोग छतरी ओढ़ लेते हैं उसका एक अर्थ यह होगा पानी से बचने के लिए छतरी ओढ़ी है। पर उसका प्रवृत्यात्मक अर्थ होगा की शरीर की सुरक्षा हेतु छतरी ओढ़ी गई है। अतः संवर का अर्थ आत्मपरक होगा कि आत्मा की सुरक्षा, आत्मा के गुणों की सुरक्षा जिससे हो वह संवर। बैग-बॉक्स पर ताला इसलिए नहीं लगाते कि कोई वस्तु अन्दर नहीं चली जाए बल्कि ताला इसलिए लगाते हैं कि बॉक्स में रहे हुए मूल्यवान आभूषणों का कोई हरण नहीं कर ले। इसी तरह संवर आत्मा के लिए ताला है। ताकि आत्मा के अन्दर रहे हुए गुणों को कोई तहस-नहस नहीं कर सके। अतः संवर-आत्म सम्पदा की सुरक्षा करने वाला है।

११२. 'प्रमाद' थोड़ा भी नहीं

०१ जुलाई १९९७, खारवा

स्वभावगत स्थितियों का सहसा परिवर्तन नहीं हो पाता है। उनका परिमार्जन करने के लिए सतत् जागरूक रहना आवश्यक है। यदि थोड़ा भी प्रमाद हो जाए तो व्यक्ति/साधक पुनः उन स्वभावगत स्थितियों की पकड़ में आ जाता है। इसलिए कहा गया है "समयं गोयम मा पमायए" अतः साधक को चाहिए कि निज स्वभाव की निरन्तर समीक्षण प्रज्ञा से समीक्षा करते हुए वैभाविक अवस्थाओं से स्वयं को ऊपर उठाने का प्रयत्न करे, क्योंकि जो समय निकल जाता है वह पुनः लौटकर नहीं आता।

११३. नरक-स्वर्ग कहाँ ?

०२ जुलाई १९९७, ताल

नरक कहाँ है? उत्तर मिलता है अधोलोक में। स्वर्ग कहाँ है? उत्तर मिलेगा उर्ध्वलोक में। पर यदि गहराई से विचार किया जाए तो नरक एवं स्वर्ग पहले हम यहाँ अपने भीतर निर्मित करते हैं। यदि हम अपने भीतर में नरक पैदा नहीं करें तो कोई शक्ति हमें अधोलोक स्थित नरक में ले जा नहीं सकती। भगवान् महावीर स्वयं फरमाते हैं नैरयिक नरक में उत्पन्न होता है, अनैरयिक नहीं। जिसने अपने भीतर नरक पैदा कर लिया है ऐसा प्राणी नैरयिक कहलाता है और वहीं उस अधोलोक स्थित नरक में उत्पन्न होता है। ऐसे ही जो अपने भीतर में स्वर्ग अथवा मोक्ष पैदा कर ले तो स्वर्ग अथवा मोक्ष क्षेत्र में जा सकता है।

अतः देखना यह है कि हम स्वयं में क्या पैदा कर रहे हैं ?

११४. दर्शन सप्तक में चारित्रमोह ?

०३ जुलाई १९९७, ताल

सम्यकत्व प्राप्ति के लिए अनन्तानुबंधी चतुष्क क्रोध, मान, माया, लोभ व दर्शनत्रिक मिथ्यात्व मोहनीय सम्यक्-मिथ्या मोहनीय और सम्यकत्व मोहनीय इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम आवश्यक माना गया है जबकि

मोहकर्म के दर्शन मोह व चारित्र मोह इस प्रकार दो भेद होते हैं। दर्शन मोह में मिथ्यात्व आदि तीन प्रकृतियां व चारित्र मोह के अन्तर्गत अनन्तानुबंधी आदि सोलह कषाय व नौ नोकषाय रूप पच्चीस प्रकृतियाँ मानी गई है। जब अनन्तानुबंधी चारित्र मोह के अन्तर्गत है तो फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति में उसके क्षय-क्षयोपशम आदि की आवश्यकता क्यों ?

उसका सामाधान यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति में दर्शन मोह की प्रकृतियों के क्षय आदि की ही अपेक्षा है। दर्शन मोह के क्षयादि से दर्शन शुद्धि होती है। पर दर्शन शुद्धि की अभिव्यक्ति उसके आचरण से होती है। वह आचरण शुद्धि अनन्तानुबंधी के क्षयादि से संभव है। अतः सम्यक्त्व की प्राप्ति में समुच्चय रूप से सात प्रकृतियों के क्षयादि का कथन किया जाता है।

११५. इहलोक भय-परलोक भय

०४ जुलाई १९९७, ताल

मनुष्य को मनुष्य की तरफ से होने वाली प्रताड़ना के प्रति आत्म-कम्पन्न को इहलोक भय समझना चाहिए। परलोक भय का अर्थ यह नहीं कि अन्याय-अत्याचार करने से परलोक बिगड़ जाएगा। पर लोक भय का तात्पर्य है मनुष्य को देव आदि द्वारा दिए जाने अथवा प्राप्त होने वाले उपसर्ग आदि की संवेदना से होने वाले प्रकम्पन्न। अर्थात् देव, पशु आदि द्वारा दिये जाते हुए उपसर्ग के क्षणों में होने वाला प्रकम्पन मानसिक परलोक भय की श्रेणी में आता है। इहलोक आदि भयों की उपस्थिति में धर्म की सम्यक् आराधना संभव नहीं है।

११६. दान का स्वरूप

०५ जुलाई १९९७, ताल

दान संसार सागर से तिराने वाला है। पर वह दान मात्र द्रव्य का विसर्जन ही नहीं है, द्रव्य विसर्जन के साथ भावों का सर्जन भी आवश्यक है। भावों की शुद्धि से दान का माहात्म्य बढ़ जाता है। द्रव्य का विसर्जन तो नागश्री ब्राह्मणी ने भी किया था पर उससे उसने संसार पस्ति करने के बजाय संसार

परिभ्रमण का ही कार्य किया क्योंकि उसके भाव शुद्ध नहीं थे। भाव शुद्धि से शालिभद्र की आत्मा ने पूर्व भव में (ग्वाले के भव में) खीर का दान देकर संसार सीमित कर लिया। अतः दान के साथ भाव शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। विशुद्ध भावों से दिया गया सुपात्र दान शीघ्र ही संसार से तिरा देता है। भाव विशुद्धि के साथ-साथ द्रव्य शुद्धि को भी भूलना नहीं चाहिए। द्रव्य शुद्धि का तात्पर्य द्रव्य संतों के निमित्त से बना हुआ नहीं होना चाहिए साथ ही रस चलित भी नहीं हो अर्थात् पदार्थ विकृत नहीं होना चाहिए।

११७. प्रतिज्ञा रूपी सड़क

०६ जुलाई १९९७, हाटपिपलिया

प्रतिज्ञा मात्र दिखावा नहीं होती। प्रतिज्ञा का तात्पर्य हमने अपनी यात्रा के लिए मार्ग निर्मित कर लिया है। वह रोड़ बना ली है, जिस पर चलते हुए गन्तव्य तक पहुँचा जा सकता है। अतः प्रतिज्ञा जिस रूप में ग्रहण की जाए उस रूप में आचरण की नितान्त आवश्यकता है। प्रतिज्ञा ग्रहण में विवेक की अनिवार्यता है ही। पहले बीड़ी, सिगरेट, शराब, हिंसा, झूठ आदि बीमारियों को छोड़ना या पहले सामायिक व्रत स्वीकार करना? जीवन यदि हिंसा झूठ आदि पापाचरण व शराब आदि व्यसनों से सना है तो वहाँ सामायिक व्रत स्वीकार करना हास्यास्पद स्थिति पैदा करता है। इससे धर्म का उपहास भी संभव है। सामायिक व्रत तो टॉनिक का रूप है वह कैसे कारगर हो सकता है? पहले बीमारी को दूर करें उसके बाद ही टॉनिक शरीर को मजबूत बना सकता है। अतः पहले हिंसा आदि पापाचरण व व्यसनों से स्वयं को दूर करना चाहिए। उसके बाद उपासना, सामायिक आदि करना प्रशंसनीय हो सकता है।

११८. विवेक – प्रज्ञा

०७ जुलाई १९९७, जावरा

हेय-ज्ञेय-उपादेय रूप विवेक प्रज्ञा जब तक जागृत न हो जाए तब तक आत्म-साधना का द्वार उद्घाटित नहीं हो सकता। क्योंकि क्या ग्रहण करना है, और क्या छोड़ना है, इसका विवेक ही नहीं होगा तो छोड़ना, ग्रहण

करना सम्यक् नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति जिसको छोड़ना है, जो त्याज्य है, उसे ग्रहण कर सकता है और जिसे ग्रहण करना है उसे छोड़ सकता है। हीरे को नहीं जानने वाला काँच का टुकड़ा समझ उसे छोड़ सकता है पर जोहरी उसे ग्रहण कर लेता है। ऐसे ही विवेक प्रज्ञा जागृत हो जाए तो हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक कर आत्मा हेय को छोड़ने का उपक्रम कर उपादेय को ग्रहण करने में तत्पर हो सकती है।

अतः राग-द्वेष-क्लेश आदि आत्मा को संसार में रूलाने वाले हैं, ऐसा अनुभव करके विवेक प्रज्ञा से हेय का निर्णय कर छोड़ देना चाहिए, साथ ही व्रतादि साधना, उपासना मार्ग की उपादेयता उसे जानकर उन पर आरुढ़ होना चाहिए।

११९. बाजार की मिठाई

०८ जुलाई १९९७, जावरा

बाजार की मिठाई क्यों नहीं खानी चाहिए? क्या रात को बनती है, जिससे बहुत से जीव उसमें गिरकर मर जाते हैं इसलिए? क्या इसलिए कि उस पर बहुत से धूलिकण उड़-उड़ कर गिरते रहते हैं? या फिर इसलिए कि उन मिठाइयों का प्रयोग आने वाला मावा या मैदा पुराना होने से जीवोत्पत्ति आदि की संभावना होती है? प्रायः लोग ऐसी कल्पना करते हुए बाजार की मिठाई का त्याग लेते होंगे। पर इसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि बाजार में हलवाई के दुकान पर मिठाइयाँ शोकेस में सजी रहती हैं। दूकान के सामने से अनेक व्यक्ति निकलते हैं। उनमें से कई व्यक्तियों के मन में उन मिठाइयों को खाने की भावना भी जगती है। अनेक व्यक्ति ललचाई आँखों से देखते भी हैं। उस समय उनकी लोभ भावना का प्रक्षेप उन मिठाइयों पर होता है। जिसका प्रभाव भी उन मिठाइयों पर पड़ता है। फिर उन मिठाइयों को खाने वाला भी उन भावों से वंचित कैसे रह सकता है? अतः बाजार की मिठाई त्याज्य मानी जाती है।

१२०. अज्ञान- मोह और रागद्वेष का अन्तर रहस्य

०९ जुलाई १९९७, जावरा

‘पाणस्स सव्वस्स पगासणाए’ गाथा में जो ‘अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए’ व ‘रागस्स दोसस्स य संखएणं’ पद आए हैं क्या ये समानार्थक शब्द नहीं हैं ? अज्ञान व मोह के दूर होने पर राग-द्वेष स्वतः नष्ट हो जाएंगे। अलग-अलग कथन क्यों किया गया ? इसकी व्याख्या अनेक तरह से हो सकती हैं। दोनों चरणों की अपेक्षा भी रही हुई है। साध्य-साधन भाव भी है। द्रव्य कर्म और भाव कर्म का संदर्भ भी है व संवर निर्जरा तत्व की झलक भी। अज्ञान मोह से द्रव्य कर्म को व राग द्वेष से भाव कर्म को ग्रहण किया गया है। द्रव्य कर्म का वर्जन संवर है। राग-द्वेष भाव कर्म है उनका संक्षय निर्जरा का रूप है। भाव कर्म का संक्षय साध्य है। द्रव्य कर्म का वर्जन साधन है। अज्ञान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय ग्रहीत है, मोह में मोह कर्म का ग्रहण होता है। जहाँ ज्ञानावरण है वहाँ दर्शनावरण भी है। अन्तराय कर्म के पूर्ण क्षय के बिना ज्ञानावरण का कुछ-न-कुछ अंश बना ही रहता है। ये तीनों का क्षय एकसाथ होने से इन्हें एक पद से ग्रहण किया जा सकता है।

१२१. धृति की महत्ता

१० जुलाई १९९७, जावरा

आध्यात्मिक साधना में धृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। धृति के बिना साधना की उँचाइयाँ तक जा पाना संभव ही नहीं है। धृति का अर्थ मन की स्वस्थता से है। मन अस्वस्थ होता है उद्विग्नता से। जब उद्विग्न अवस्था होती है तब अधैर्य की स्थिति बन जाती है। उस समय परिषहों को सहन करने में साधक असमर्थ हो जाता है। अतः साधना में प्रवेश के पूर्व धृति को दृढ़ बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। जो कष्टों में भी अचल अटल हिमालय की भाँति खड़ा रहता है। वह व्यक्ति साधना के क्षेत्र में भी उँचाई प्राप्त कर सकता है।

१२२. 'चढ़ाई' नहीं , गहराई'

११ जुलाई १९९७, जावरा

चार गति में आध्यात्मिक विकास की पूर्ण सम्भावना एक मात्र मनुष्य में ही है। अन्य गति के जीव आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश ही कर सकते हैं, अथवा एकाध सोपान ही तय कर पाते हैं, जबकि मनुष्य गति को प्राप्त मानव आध्यात्मिक विकास की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर सकता है। उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त करने के लिए आन्तरिक सोपानों पर आरोहण करना होता है। यहाँ चढ़ाई पर चढ़ने के बजाय गहराई में गहरा उतरना होता है।

१२३. नमन से निर्वाण

१२ जुलाई १९९७, जावरा

नमन से निर्वाण प्राप्त होता है। उसका कारण नमन करने से गर्दन में झुकाव आता है, जिससे विशुद्धि चक्र के जागरण की स्थिति बनती है। जिससे क्रोध आदि कषाय, उपशान्त होते हैं। अहंकार पर भी चोट पड़ती है। अतः नमन करने से कषायों की उपशमना होते हुए जीवन में क्षमा का प्रादुर्भाव होता है। कषायों की तीव्रता के संस्कार जब आत्मा पर जम जाते हैं तो कई भवों तक आत्मा को अधोगतियों में रुलाते रहते हैं।

अतः कषायों को नष्ट करने के लिए नमन प्रक्रिया की विधि का अवलम्बन लेना चाहिए।

१२४. नेताओं का आचरण

१३ जुलाई १९९७, जावरा

यदि राष्ट्रीय नेताओं का चारित्र शुद्ध नहीं हो तो वे जनता से आचरण-की चारित्र की, शुद्धि की अपेक्षा कैसे रख सकते हैं? यदि इस प्रकार से जनता से चारित्र शुद्धि की अपेक्षा रखें तो यह अपने आप में बेमानी होगी। जनता से जो अपेक्षा हो वैसा आदर्श अपेक्षा रखने वालों को उपस्थित करना आवश्यक है।

१२५. उज्रयिनी का रूप

१४ जुलाई १९९७, उपरवाडा

वर्षा समय पर नहीं होने के कारण लोग उज्रयिनी मनाने की बातें कर रहे हैं। उस दिन चौका-चूल्हा बन्द रखने का कहा जाता है, घर में धुँआ नहीं उठना चाहिए। पर गाँव के बाहर जाकर खाना-पीना करते हैं। यह तो एक प्रकार से पिकनिक (गोठ) मनाना हो गया। क्योंकि जब उज्रयिनी मनाने वालों से कहा जाता है कि व्यसनों का त्याग करो। बीड़ी सिगरेट पीते हो तो तुम्हारे मुँह से धुँआ निकलता है। उसे बन्द करने को कहें तो लोग उसे बन्द करने को तैयार नहीं? चूल्हे से धुँआ नहीं उठना पर मुँह से धुँआ उगलना। इनमें से पहले किसे बन्द किया जाए? यथार्थ में उज्रयिनी वही हो सकती है जिससे स्वयं के व्यसनों को छोड़कर नैतिकता पूर्ण जीवन यात्रा प्रारम्भ करें। यह अतिवृष्टि और अनावृष्टि के परिहार का अपेक्षाकृत सशक्त प्रयत्न कहा जा सकता है।

१२६. ज्ञान अन्तर से प्रकट हो

१५ जुलाई १९९७, नामली

आज ज्ञान को अर्जित किया जा रहा है जब कि ज्ञान अन्तर से प्रकट होना चाहिए। ज्ञान का दरिया हमारे भीतर भरा हुआ है। उसका स्रोत प्रवाहित करना है। पुस्तकों आदि से उपार्जित ज्ञान आन्तरिक ज्ञान के प्रकटीकरण में साधन/माध्यम बनता हो तो वह लाभप्रद हो सकता है। अन्यथा वह केवल मस्तिष्क में भार रूप ही होगा। टेपरिकॉर्डर व कम्प्यूटर में सारे आगमों को भरा जा सकता है। बल्कि भर भी लिया गया है। वैसे ही मस्तिष्क में भी भर लें लेकिन उसकी उपयोगिता क्या? अभी दस पूर्वों से कुछ कम तक का ज्ञान कर लेता है पर वह उपार्जित ज्ञान उसके लिए आत्मकल्याण में सहायक नहीं होता अतः ज्ञान अन्तर से प्रकट होना चाहिए।

१२७. छोड़ना ही छोड़ना

१६ जुलाई १९९७, रतलाम स्टेशन

सिद्ध भगवान की आत्मा में और हमारी आत्मा में भेद क्या है? इस भेद को, दूरी को कैसे पाटा जा सकता है? दौड़ लगाकर या तेज चलकर यह दूरी दूर नहीं हो सकती बल्कि इस दूरी को दूर करने के लिए छोड़ना ही छोड़ना पड़ेगा। बिना छोड़े यह दूरी दूर नहीं हो सकती। थोड़ा भी यदि बचाकर रख लिया तो दूरी बनी रहेगी। अतः जितना बन सके हम हमारे संयोगों को छोड़ने का प्रयत्न करें। जब हम सब कुछ छोड़ चुके होंगे तब हम देखेंगे कि हम स्वयं ही सिद्ध बन गए हैं। छोड़ना है हमें अपने कषायों को, राग-द्वेष को, ईर्ष्या-डाह को, भाव कर्मों को।

१२८. लेने के लिए न कि देने के लिए

१७ जुलाई १९९७, रतलाम

मैं रतलाम किसलिए आया? अथवा आचार्य देव ने मुझे रतलाम क्यों भेजा? क्या श्रद्धा-समर्पणा का पाठ पढ़ाने? क्या संस्कारों का पाठ पढ़ाने? क्या धर्म का बोध देने? पर नहीं,.....! रतलाम अपने आप में महत्त्वपूर्ण संघ रहा है, जहाँ पूर्वाचार्यों ने खूब सिंचन किया है, खूब बीज बिखेरे हैं, जो आज वृक्षों के रूप में लहलहा रहे हैं।

अतः मेरी यह सोच है कि पूर्व पुरुषों द्वारा लगाये गये ऐसे बगीचे में आचार्य देव ने मुझे यहाँ की ठण्डी छाया, शीतल समीर मधुर फल लेने हेतु भेजा है। अतः मैं लेने के लिए आया हूँ न कि कुछ देने के लिए।

१२९. जैसा नक्शा: वैसा मकान

१८ जुलाई १९९७, रतलाम

बीज देखकर उससे पैदा होने वाली फसल का अनुमान लग जाता है। बादलों को देखकर वर्षा का हिसाब लगाया जा सकता है वैसे ही हमारे भीतर बनने वाले भावों से बांधने वाले कर्मों का ज्ञान किया जा सकता है। इंजीनियर पहले नक्शा बनाता है फिर उसके अनुसार मकान बनाता है। वैसे ही पहले हम

कर्म बन्धन का नक्शा अपने भीतर तैयार करते हैं फिर उसके अनुसार हम कर्मों के बन्धन में आ जाते हैं। हमारे भाव शुभ होंगे तो शुभ रूप और अगर अशुभ होंगे तो अशुभ रूप कर्मों से हम बन्धते हैं। अतः हमें अपने बीज रूप भावों की ओर ध्यान रखना चाहिए।

१३०. ताप दूर हो जाय

१९ जुलाई १९९७, रतलाम

आज चातुर्मास के प्रारम्भ होने का दिवस है आज शाम से संयत वर्ग संयम की सुरक्षा हेतु एक स्थान पर आबद्ध हो जाते हैं, । वर्षा भी झिरमिर-झिरमिर हो रही है। जैसे यह वर्षा भूमि के ताप को दूर करने में समर्थ है वैसे ही हमारे में ज्ञान का प्रकाश हो जाए, श्रद्धा की वर्षा हो जाए और चारित्र कि इतनी पैठ हो जाए कि हमारे जीवन रुपी भूमि का ताप दूर हो जाए।

१३१. स्वर्ण के कड़े

२ अगस्त १९९७, रतलाम

यदि जनसमुदाय से पूछा जाय – क्या आप प्रतिष्ठित जीवन जीना चाहते हैं? मेरे ख्याल से समवेत उत्तर होगा – हाँ।

राजा द्वारा एक अपराधी को बेड़ियाँ भी पहनाई जाती है वही दूसरी तरफ किसी एक को नगरसेठ आदि के रूप में स्वर्ण के कड़े भी बख्शे जाते हैं। दोनों व्यक्ति बाजार में निकलते हैं तो दूसरा व्यक्ति जिसने बख्शीश में मिले स्वर्ण कड़ों के धारण कर रखा है उसे प्रतिष्ठित माना जाता है। हमारे पैरो व हाथों में मोह-माया और वासना की बेड़ियाँ व हथकड़ियाँ पड़ी हुई है।

भगवान महावीर की वाणी कहती है- आओ! मेरे निकट आओ! मैं इन बेड़ियों को काट देती हूँ। बदले में भगवान महावीर की पेढी के संचालक गणपितक को धारण करनेवाले महामहिम आचार्य देव से तुम्हें स्वर्ण के कड़े धारण करवा देती हूँ। जो तुम्हारे जीवन की प्रामाणिकता की एक मुद्रा होगी। वे स्वर्ण के कड़े हैं – “श्रावक के बारह व्रत”।

१३२. अहिंसा आदि का आन्तरिक भाव

०२ अगस्त १९९७, रतलाम

अस्तित्व का विस्तार	- अहिंसा
अस्तित्व बोध	- सत्य
अस्तित्व की दिशा में प्रयास	- अचौर्य
अस्तित्व को उपलब्ध	- ब्रह्मचर्य
अस्तित्व रूप होना	- अपरिग्रह

“स्व के अस्तित्व को समग्र जीवों में देखते ही अहिंसा प्रादुर्भूत होती है” जीव तो जीव ही है, जीव के इस अस्तित्व का बोध होते ही सत्य घटित होता है। जिससे चंचल-वृत्ति की समाप्ति। चंचलवृत्ति चौर्य कर्म की पहचान है। चोर चौकन्ना होता है। चंचलवृत्ति समाप्त होते ही ब्रह्मनिष्ठ आत्मनिष्ठ हो जाता है। फिर उसका विचरण आत्मा में ही होता है। फिर वह अन्य कुछ नहीं चाहता वही उसका अपरिग्रह है।

१३३. साज संगीत नहीं

३ अगस्त १९९७, रतलाम

संगीत के पूर्व साज तैयार किये जाते हैं दर्शक साज की तैयारी को देखकर ही चला जाए तो उसे संगीत का आस्वादन नहीं हो सकता। वैसे ही मन वचन काया की एकाग्रता सिद्ध करने हेतु आसन, मौन, व श्वसन क्रियाओं को देखकर व्यक्ति सोच ले कि यही समीक्षण ध्यान है तो वह उसका अधिकारी तो क्या पात्र भी नहीं हो सकता है। संगीत का आस्वाद लेने वाले को साज के तैयार होने की प्रतीक्षा तो धैर्यपूर्वक करनी होगी वैसे ही समीक्षण ध्यान का आनन्द लेने वाले को आसन, मौन व श्वसन क्रिया आदि रूप उसके साज की तैयारी का धैर्यपूर्वक इन्तजार करना होगा। धैर्य के अभाव में यदि कोई व्यक्ति साज को ही संगीत मान ले तो वह व्यक्ति वस्तुतः समीक्षण ध्यान को अभी तक नहीं जान पाया है।

१३४. जीवन में उतरे वही मेरा

०४ अगस्त १९९७, रतलाम

एक युवक शादी करने की इच्छा से कई कन्याओं को देखता है। क्या जितनी कन्याओं को उसने देखा क्या वे कन्याएँ उसकी हो गई? नहीं। पर जिसके साथ उसने हथलेवा जोड़ लिया यानि शादी करली वह कन्या उसकी कहलाती है। वैसे ही आपने पुस्तकें कई देखी। ढेर सारे ग्रन्थ भी देखे। बहुत से सुन्दर वाक्य सुभाषित आदि भी पढ़े पर क्या वे आपके हो जाएंगे? नहीं। जिनको आपने अपने जीवन में ढाल लिया है या ढालने लगे हैं, वे ही आपके हो सकते हैं। अतः पढ़े हुए सुभाषित/नीति वाक्य जीवन में उतरे, यही अभीष्ट है तभी आपका अध्ययन सही मायने आपका – अपना होगा।

१३५. प्रामाणिक वचन

०५ अगस्त १९९७, रतलाम

व्यक्ति की प्रामाणिकता के आधार पर उसके वचन प्रामाणिक होते हैं। व्यक्ति का जीवन यदि अप्रामाणिक है तो उसके वचन प्रामाणिक होते हुए भी पूर्णतया समादरणीय नहीं हो सकते क्योंकि उसमें कुछ न कुछ संशय बना रहना स्वभाविक है। अतः अपने वचनों को महत्त्वपूर्ण बनाना है तो पहले अपने जीवन को ठोस बनाना आवश्यक है। जीवन की ठोसता से निकलने वाला वचन प्रवाह स्वतः प्रभावक बन जाता है। तीर्थकर देव वचन-प्रवाह प्रवाहित करने के पूर्व जीवन को साधना से साधते हैं इसलिए उनकी वाणी पाप-पंक प्रक्षालन करने वाली कल्याणकारी प्रामाणिक व विसंवाद रहित होती है।

१३६. महावीर का मार्ग बगावत का

१२ अगस्त १९९७, रतलाम

भगवान् महावीर का मार्ग बगावत का मार्ग है। वहाँ आन्दोलन है, असहयोग है। वहाँ रहम नहीं है।

बगावत सत्ता के प्रति है। कर्मों ने हमारे राजधानी पर कब्जा कर रखा है। उन्हीं कर्मों की सत्ता के प्रति बगावत है। कर्मों को दूर करके हम अपनी आजादी हासिल करके रहेंगे।

इसलिए आन्दोलन है कि 'उट्टिए नो पमायए'।

जागृत आत्मा प्रमाद न करों

असहयोग है "न करेमि, न कारवेमि"। पाप कार्यो को न करूँगा, न कराऊँगा,

बगावत की भाषा है 'एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए'।

वह वीर प्रशंसित है, जो बद्ध आत्मा को मुक्त करता है। कषाय आत्मा अर्थात् कषाय की प्रवृत्ति से युक्त आत्मा के प्रति प्रभु महावीर का स्पष्ट उद्घोष है कि 'अप्पा चेव दमेयव्वो'। आत्मा ही दमन करने योग्य है।

अतः कहना होगा भगवान महावीर ने जो संग्राम छेड़ दिया उसमें 'समयं गोयमां मा पमायए' गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो की रण भेरी बजा दी है, उसमें प्रेरणा के स्वर है कि हे वीर! अप्पाणं चेव जुज्झाहि आत्मा से ही युद्ध करो, समय मात्र का प्रमाद मत करो।

१३७. साधु से परिचय

१३-८-१९९७, रतलाम

साधु से किया गया परिचय व्यक्ति के पाप कर्मों को घात क्षय करने वाला होता है। पर वह परिचय मात्र नाम-ठाम तक ही नहीं हो बल्कि परिचय का तात्पर्य है स्वयं को साधु के जो क्षमादि गुण हैं उनके निकट उपस्थित करना। क्षमादि दशविध यति धर्म से परिचित होना ही वस्तुतः साधु से परिचित होना है।

१३८. सेम्पल से माल की पहचान

३१ अगस्त १९९७, रतलाम

किसी भी माल को ग्रहण करने के पहले उसका सेम्पल पसंद कर लिया जाता है। सेम्पल की पसंदगी माल ग्रहण करवाने में महत्वपूर्ण होती है। सिद्धावस्था में हमें कैसा आनन्द मिल सकता है। उसकी अनुभूति के लिए श्रावक का सामायिक व्रत है ताकि उससे वह अनुभव कर सके कि जब अल्प समय की सामायिक में भी इतना आनन्द है तो पूर्ण रूप से सामायिक अर्थात् स्थिरता रूप अवस्था में तो अथाह आनन्द होगा। अतः सामायिक व्रत की शुद्ध

आराधना से सिद्ध-भगवान के आनन्द का अंश प्राप्त करके अपनी आत्मा को समग्र आनन्द प्राप्ति की दिशा में गतिशील करें।

१३९. कर्तव्य और जवाबदेही

०१ सितम्बर १९९७, रतलाम

माता-पिता के भी संतान के प्रति कुछ कर्तव्य होते हैं तो पुत्र की भी माता-पिता के प्रति जवाबदारी होती है। माता-पिता को चाहिए कि वे संतान को सुसंस्कारित करें, उसमें नैतिकता का संचार करें, उसे ऐसा वातावरण दें, जिससे उसमें सह-अस्तित्व सहिष्णुता आदि सद्गुणों का जागरण हो। वहीं संतान के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने माता-पिता के उपकार को कभी विस्मृत नहीं करे सदा उनकी सुख-साता का ध्यान रखे। कभी उन्हें दुःख दर्द नहीं होने दे, उनके प्रत्येक शारीरिक, मानसिक संताप को दूर करने का हर संभव प्रयत्न करें। यदि स्वयं की चमड़ी के उपानह पादत्राण भी पहनाने का प्रसंग आ जाए तो सदा तत्पर रहे।

१४०. बड़ा कल्प

०२ सितम्बर १९९७, रतलाम

आज का दिन 'बड़े कल्प' के रूप में कहा जाता है। क्योंकि आज पर्यूषण पर्व का चौथा दिन है, कल्प सूत्र के वाचन प्रसंग में आज भगवान् महावीर के जन्म का वर्णन होता है, अतः आज के दिन को बड़े कल्प के रूप में अभिसंज्ञित किया गया है।

जब भगवान महावीर के जन्म क्षण का स्मरण करते हैं तो लगता है कि स्वर्गलोक में इन्द्र सिंहासनारूढ है, इन्द्राणी भी उनके उपपात में है। सहसा सिंहासन हिला, मानों भूकम्प से कोई वस्तु हिली हो, इतने में स्वर्गलोक के घण्टे भी बजने लगे। इन्द्राणी कहने लगी- स्वामी! यह क्या हो रहा है? इन्द्र अवधि ज्ञान का प्रयोग करते हैं, जैसे ही कुण्डलपुर नगर का दृश्य अवधि ज्ञान से झलका, दृष्टिगत हुआ इन्द्र ने सिंहासन से नीचे उतरे और प्रभु का स्मरण करते हुए नमस्कार किया, तदनन्तर सर्वत्र उद्घोष करवाकर प्रभु के शरीर को लेकर जन्म महोत्सव हेतु मेरु पर्वत पर पहुंचे प्रभु की लघुकाया को देखकर विचार निमग्न होते हैं। इतने में एक दृश्य और सामने आता है कि मेरु पर्वत

कम्पित हो रहा है। इन्द्र अपनी भूल का अहसास करते हैं, आशातना की क्षमा याचना करते हैं।

प्रभु के जन्म का स्मरण भी रोम-रोम को उल्लासित करता है।

१४१. उत्तरीकरण

०५ सितम्बर १९९७, रतलाम

उत्तरीकरण यानि आत्मा का उत्कर्ष की दिशा में गमन। आध्यात्मिक साधना के पूर्व जो तस्स उत्तरीकरणेणं का पाठ पढ़ा जाता है, उसमें बड़ा गहरा मनोविज्ञान रहा हुआ है। संसारी व्यक्ति संसार की क्रियाओं में ही रचा-पचा रहता है। उसका उससे सम्बन्ध बना रहे और वह चाहे कि परमात्मा से भी सम्बन्ध जोड़ लूं तो यह संभव नहीं। अतः 'तस्स उत्तरीकरणेणं' से आत्मा का अमुक समय तक संसार से सम्बन्ध-विच्छेद कर आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने का उपक्रम हो जाता है। परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने के पूर्व यदि संसार का सम्बन्ध नहीं तोड़ा जाए तो उस तरफ आत्मा का खिंचाव, लगाव बना रहेगा, वैसी स्थिति में उसका उत्तरीकरण संभव नहीं। अतः उत्तरीकरण के लिए सांसारिक सम्बंधों से स्वयं को हटाना जरूरी है। तभी उत्तरीकरण घटेगा।

१४२. अवैर का अनहद नाद

०६ सितम्बर १९९७, रतलाम

जैसे कंटीली झाड़ियों में जंगली जानवर मिलते हैं वहीं पुष्पों से खिले उद्यान में भौरों की गुंजार व आम्रकुंजों में कोयल की कुहुक सुनाई पड़ती है, वैसे ही वैर भाव रुपी कंटीली झाड़ियों में ईर्ष्या, डाह व विभिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्प रूप अंश व्यक्ति के अशुभ विचार जंगली जानवर के रूप में होते हैं। अवैर-समत्व भाव के क्षणों में आत्मा का अनहद नाद कोयल की कुहुक व भौरों की गुंजार के समान सुनाई देता है। उस अनहद को सुनने के लिए अवैर रुपी आम्र कुंज, पुष्पों से खिले उद्यान में इस आत्मा को विचरण करना होगा। आज संवत्सरी है। आज उपशमन का सुन्दर अवसर है। सारे वैर विरोध दूर कर अवैर के समत्व उद्यान में हम प्रवेश करें यही शुभेच्छा।

१४३. सुन्दर-क्षण

०७ सितम्बर १९९७, रतलाम

व्यक्ति एक इकाई है। अनेक इकाइयाँ मिलकर एक संघ व समाज बनता है। संघ व समाज में रहते हुए सामूहिक चेतना में जीना आवश्यक है। वहाँ पारस्परिक सद्भाव व आत्मीय व्यवहार की अपेक्षाएँ होती हैं। कभी एक इकाई में भी तनाव आ जाए तो उसका सामूहिक चेतना पर असर पड़े बिना नहीं रहता। सामूहिक चेतना में जीने वालों के लिए आज का दिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज के दिन प्रत्येक इकाई को अपने तनाव, टेन्शन दूर कर अटेन्सन – आत्मा की दिशा में सजग बनने का प्रसंग है। पूर्व की तनाव जनित सारी अवस्थाओं को त्याग कर पारस्परिक क्षमापना करके आत्म भाव में लौटने का सुन्दर क्षण है।

१४४. नामी बनें

०८ सितम्बर १९९७, रतलाम

व्यक्ति अपना प्रदर्शन करके नामी बनना चाहता है। वह चाहे स्वयं कुछ भी हो पर प्रदर्शन ऐसा करना चाहेगा, जिससे समाज की नजरों में वह प्रतिष्ठित हो जाए, सब तरफ से उसके नाम की प्रशंसा होने लगे। पर यह प्रशंसा उस व्यक्ति के लिए अत्यन्त घातक हो जाती है, जो व्यक्ति यथार्थ में 'नामी' नहीं बना है। जैसे- नन्दन मणियार को स्व प्रशंसा में मुग्ध बनने के कारण मेंढक बनना पड़ा। वस्तुतः नामी वह है जिसने अपने कसायों को नमाया हो। जैसा कि आचारांग में कहा- 'जे एगणामे से बहुणामे' अतः हम कषायों को नमाकर 'नामी' के वास्तविक अर्थ से संपन्न बने।

१४५. चित्त नदी पर बाँध

१० सितम्बर १९९७, रतलाम

शयन करना एक क्रिया है। उसके कई प्रकार हैं। कोई चित लेटता है तो कोई करवट से। कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो पाँव पसार करके सोते हैं। वहीं कई व्यक्ति पैरों को समेटकर लेटते हैं। जैसे ये प्रकार हैं वैसे ही व्यक्ति के विचार भी अनेक प्रकार के होते हैं। वह सदा एक ही विचारों में नहीं चल पाता। कभी शुभ योग में प्रवृत्त होता है तो कभी अशुभ में परोपकार की वृत्ति से चलने

वाला व्यक्ति भी कभी अपकार की विचारधारा से स्वयं को बचा नहीं पाता। एक समय जहाँ व्यक्ति कृतज्ञता से भरा होता है वहीं समयान्तर में कृतघ्नता का सरदार बन जाता है। इसलिए कहा जाता है – “चित्त नदी उभयतो वहति, वहति पुण्याय पापाय च।” साधना द्वारा उस चित्त नदी पर बाँध बाँधकर उसे एक दिशा गामी बनाया जा सकता है।

१४६. त्रिभुवन स्वामी

१० सितम्बर १९९७, रतलाम

तीर्थकर देवों को त्रिभुवन स्वामी कहा जाता है। तीन भुवन का तात्पर्य तीन लोक अधोलोक, उर्ध्वलोक व तिर्यक् लोक से है यदि तीन भुवन के सभी प्राणी उन्हें अपना स्वामी मान लें तो फिर सभी आत्माएँ सम्यक्दृष्टि हो जाए, आराधक हो जाए किन्तु कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने अपनी ‘अन्ययोग व्यवच्छेद कारिका’ में कहा है “गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी, मा शिश्रियन्नम भवन्नामीशं” – भगवान तुम्हारे गुणों में ईर्ष्या रखने वाले, अन्य मत वाले तुम्हें ईश्वर-स्वामी रूप में भले स्वीकार नहीं करें” अतः जिनेश्वर देव को त्रिभुवन स्वामी कैसे कहा जाय ? त्रिभुवन स्वामी कहने का तात्पर्य है कि उनमें तीन भुवन में आत्म प्रदेशों को प्रसारित करने का सामर्थ्य है। कहीं पर भी कोई रुकावट उन्हें नहीं आ सकती तीनों लोकों में निर्बाध गति से आत्मप्रदेशों का संचरण का सामर्थ्य होने से उन्हें त्रिभुवन स्वामी कहा है।

१४७. घन नामी

१२ सितम्बर १९९७, रतलाम

जब तक संसार में है, आत्मा कर्माधीन है। पुनः पुनः आयु का बन्ध करके जन्म और मरण की प्रक्रिया से युक्त है तब तक उसमें संकोच विस्तार की स्थिति बनी रहती है। भव-भवान्तर में जैसा-जैसा शरीर मिलता है उसके अनुसार आत्म प्रदेशों के अवगाहना की स्थिति रहती है। किन्तु आत्मा जब पूर्णतया अपने स्वरूप में अर्थात् सर्व संवर रूप में स्थित हो जाती है तब संकोच विस्तार की अवस्था भी समाप्त हो जाती है। उस समय अटल अवस्था प्राप्त हो

जाती है। वही धननामी अवस्था है। घन यानि ठोस। ऐसी ठोसता आत्म प्रदेशों की शैलेशी रूप अवस्था में प्राप्त होती है फिर किसी के भी द्वारा उस घनीभूत अवस्था को छिन्न नहीं किया जा सकता ।

१४८. परनामी कौन ?

१३ सितम्बर ९७ रतलाम

आत्मा जब पाँच इन्द्रियों के विषय में अनुरक्त होता है तब वह अपने स्वभाव का अतिक्रमण करता है। जब व्यक्ति अपने स्वभाव का अतिक्रमण करता है तो उस पर आक्रमण भी होता है। आत्मा जब निज भान भूलकर विषय कषाय में प्रवृत्ति करता है यह अतिक्रमण है। इस अतिक्रमण से ही आत्मा पर कार्मण वर्गणाओं का आक्रमण होता है। फलस्वरूप आत्म प्रदेशों पर वे अपना अधिकार जमा लेते हैं। आत्मा का एक अंश भी स्वतंत्र नहीं रह पाता। आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि धाराएँ संकुचित हो जाती हैं। उनका प्रवाह पूर्ण रूप से प्रवाहित नहीं हो पाता। किन्तु आत्मा को जब अपने अतिक्रमण का भान होता है तब वह प्रतिक्रमण करता है। फलस्वरूप अधिकार जमाए हुए 'पर' कर्म वहाँ से खिसकने शुरू हो जाते हैं, सम्पूर्ण कर्मों को नमा देना अर्थात् उनका आत्मा से हट जाना आत्मा पर उनका प्रभाव नहीं रहना यह पर को नमाने में समर्थ आत्मा की परनामी अवस्था है।

१४९. नमाएं किसे ?

१४ सितम्बर १९९७

नमाने, झुकाने के अनेक तौर तरीके होते हैं। किसी को प्रशंसा करके नमाया जा सकता है तो कोई प्रलोभन से नमता है। कोई कोई दण्ड प्रक्रिया से नमते हैं। किसी को फूट डालकर भी नमाया जाता है। पर ये सारे तौर तरीके व्यक्ति को उलझाने वाले हैं। इससे उसके मन में भयांश बना रहता है। वह सोचता रहता है कि जिसको मैंने नमाया है वह कभी भी उखड़ सकता है, बिफर सकता है। उस क्षण में उसे किस प्रकार नमा पाऊंगा, उस समय के लिए कौनसा फार्मूला तैयार करे ? इस प्रकार वह अन्तर में भयाक्रान्त बना सोचता

रहता है। वह स्वयं के लिए सोच नहीं पाता कि मुझे मेरी आत्मा के लिए क्या करना है। इसलिए दूसरों को नमाने के बजाय अपने ही अहंकार को, अपने ही लोभ को, अपनी अशुभ वृत्तियों को नमाने के लिए प्रवृत्त होना शुभ है। यदि अपने अन्तर के इन कषायों को नमा दिया तो फिर दूसरों को नमाने का कोई प्रसंग ही नहीं रह जायेगा।

१५०. कृष्ण-पक्ष शुक्ल-पक्ष

०३ अक्टूबर १९९७

आत्मा कृष्णपाक्षिक अवस्था में बनी रही है। उस अवस्था में भ्रमण करते-करते शुक्ल पाक्षिक बनती है। प्रत्येक माह के दो पक्ष होते हैं कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। दोनों पक्षों में जैसे तिथियाँ होती हैं वैसे कृष्ण-पाक्षिक व शुक्ल-पाक्षिक के आचरण की श्रेणियाँ होती हैं। जिन्हें कुछ इस रूप में समझा जा सकता है-

१५१. कृष्ण पक्ष

- एकम – मिथ्यात्व का आचरण
- द्वितीया – राग-द्वेष में रमण
- तृतीया – तीन दण्डों का अधिकारी
- चतुर्थी – चार कसायों की ज्वाला से जलना
- पंचमी – पांच क्रियाओं में निमग्न
- षष्ठी – छःकाय जीवों की हिंसा में रत
- सप्तमी – सात भयों से भयभीत
- अष्टमी – आठ कर्मों का बंध करने वाला
- नवमी – नव निदान में प्रवृत्त
- दशमी – दशविध मिथ्यात्व में रमण
- एकादशी – एक के पीछे एक, गतानुगतिक यानी कर्मों का अनुगमन
- द्वादशी – बारह अव्रत में मग्न
- त्रयोदशी – तेरह क्रियाओं का अधिकारी
- चतुर्दशी – चौदह प्रकार के जीव भेदों में जन्म मरण
- अमावस्या – परम-अधर्मी देवों सा आचरण

१५२. शुक्ल पक्ष

प्रतिपदा – समकित की सौम्यता
द्वितीया – श्रुत धर्म, चारित्र धर्म
तृतीया – तीन गुणियों से गुप्त
चतुर्थी – धर्म ध्यान के चार भेदों में रमण
पंचमी – पांचवी (सिद्ध) गति के अनुरूप आचरण/आराधना
षष्ठी – षट् द्रव्यों का ज्ञाता
सप्तमी – सात महाभयों से मुक्ति की ओर
अष्टमी – आठ मर्दों से मुक्ति की डगर पर
नवमी – नव तत्त्वों के विस्तार में
दशमी – दशविध यति धर्म का पालन
एकादशी – ग्यारह अंगों का अध्ययन
द्वादशी – भिक्षु की बारह प्रतिमाओं की आराधना
त्रयोदशी – जीव के चौदह भेदों में से तेरह भेदों में नहीं जाना।
चतुर्दशी – चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त करना।
पूर्णिमा – लोकाग्र पर सदा के लिए आलोकित होना, स्थित होना।

१५३. 'तीन प्रकार के शिष्य'

३-१०-९७, रतलाम

शिष्य तीन प्रकार के होते हैं। वितीत, ऋजु और वक्र ।

विनीत शिष्य गुरु के इंगित, आकार व चेष्टा आदि जानकार प्रवृत्ति करने वाला होता है।

गुरु के निर्देशानुसार प्रवृत्ति करने वाला शिष्य ऋजु कहलाता है । उसे गुरु कहे कि अमुक कार्य करो तो वह उस कार्य को सम्पन्न कर देता है पर बिना कहे वह गुरु के विचारों को भावों को समझ नहीं पाता।

तीसरे प्रकार का शिष्य जिसे वक्र कहा गया है विशेष रूप से वह गुरु के अनुशासन में रहना पसंद नहीं करता स्वतंत्र रहने में उसे प्रसन्नता रहती है, गुरु द्वारा उनके हित के लिए भी किसी बात को कहने पर वह उल्टा ही अर्थ ग्रहण करता है ।

इनमें से गुरु के हृदय में कौनसा शिष्य विशेष स्थान पायेगा, यह जाना जा सकता है।

१५४. दौड़ कैसे रुके

०४ अक्टूबर १९९७ रतलाम

क्रियाएँ कई तरह से सम्पन्न की जा सकती हैं। जप, तप, नियम आदि रूप पर उन क्रियाओं से वांछित फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इष्ट फल तभी संभव है जब जीवन स्थिर बन जाए। स्थिरता का तात्पर्य है कि उसमें कषायों का उद्वेग, रागद्वेष का भूचाल नहीं आए। यदि जप, तप आदि क्रियाएँ करते हुए ये उद्वेग, भूचाल आते हों तो समझना चाहिए अभी केवल बाहर-बाहर दौड़ चल रही है, जो कि अनादि से चल ही रही है। उस दौड़ से विराम नहीं ले पाए हैं। अतः आवश्यकता है कि चल रही दौड़ से विराम लिया जाए और वह मात्र क्रियाओं से मिलने वाला नहीं है वह तो क्रियाओं के साथ चेतन अनुभूति बनने पर ही संभव है।

१५५. श्रुत का मीठा पानी

०५ अक्टूबर १९९७ रतलाम

समुद्र के खारे पानी में रहने वाली शृंगी मछली खारा पानी नहीं पीती। वह मीठा पानी ही पीती है। जिधर से नदियाँ समुद्र में आती हैं उस दिशा में वह अपना मुँह कर लेती है जिससे समुद्र के खारे पानी में रहकर भी मीठा पानी पीती है। सद्गुरु द्वारा प्रवचन अंजन से जिस भव्यात्मा के ज्ञान-नेत्र उद्घाटित हो जाएँ वह भी संसार के मिथ्यात्व मोह, राग-द्वेष, कषाय आदि रूप पानी के बीच रहता हुआ भी श्रुत धर्म रूपी नदियों का पानी पीकर चरित्र धर्म की दिशा में अपनी गति प्रवृत्ति बनाता है। जिसने उक्त श्रुत धर्म का मीठा पानी पिया है वह संसार के खारे पानी को पीना नहीं चाहेगा।

१५६. अनादि की दौड़

६ अक्टूबर १९९७ रतलाम

यह आत्मा संसार में अनादि काल से दौड़ की प्रतियोगिता में भाग ले रही है। पर कुछ ही दूरी पार करने पर उसमें श्वास फूल जाती है। वह पिछड़ जाती है। ऐसे एक बार नहीं अनेक बार इस आत्मा ने दौड़ में भाग लिया, पर सफल नहीं हो पाई। सफलता के लिए देशना लब्धि व करण लब्धि का होना अनिवार्य है। उक्त लब्धियों की प्राप्ति होने पर यथाप्रवृत्तिकरण करके अनन्तानुबन्धी आदि सघन आवरण पटलों को दूर करने में समर्थ हो जाता है। उस क्षण में उस आत्मा में अपूर्व उल्लास जागृत हो जाता है। फिर तो उसके अन्तर में ऐसी भावना जगती है कि अब तो सफलता हासिल किए बिना में निवृत्त नहीं होऊँगा। उसी उल्लास में वह अनिवृत्तिकरण अन्तर-करण आदि के माध्यम से उस दौड़ में सफलता प्राप्त कर लेता है। उपशम समकित रूपी विजय श्री उसे प्राप्त हो जाती है।

१५७. चारित्र के लिए ज्ञान

०७ अक्टूबर १९९७ रतलाम

ज्ञान के बिना चारित्र हो सकता है, पर चारित्रगुणों का पल्लवन नहीं हो सकता। चारित्रिक गुणों के बिना चारित्र मात्र द्रव्य रूप में मौजूद रह सकता है। जीव के बिना शरीर रह सकता है किन्तु जो संवेदन आदि गुण जीवात्मा के होने पर होते हैं वे उसमें नहीं हो सकते। खिलौने में हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि होते हैं पर वे अपनी-अपनी क्रिया करने में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार ज्ञान के अभाव में चारित्र मात्र कलेवर अथवा खिलौने के रूप में ही रह जाता है। प्रभु ने भी फरमाया “नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा” अतः चारित्र गुणों को विकसित करने के लिए प्रथम ज्ञान की आसेवना होनी चाहिए- ‘पद्मं नाणं तओ दया’ उसके पश्चात् आचरण सुन्दर व श्रेष्ठ हो सकता है।

१५८. एक और अनेक

०८ अक्टूबर १९९७ रतलाम

भगवान से पूछा गया कि आप एक हैं या अनेक? 'भगवान ने उत्तर दिया मैं एक भी हूँ अनेक भी। जो एक है वह अनेक कैसे हो सकता है? क्या भगवान ने सृष्टिकर्ता ईश्वर के रूप में स्वयं को उपस्थित किया? नहीं, 'भगवान् ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए फरमाया— द्रव्य की अपेक्षा मैं एक हूँ क्योंकि मेरा आत्मद्रव्य एक है। किन्तु प्रदेश की अपेक्षा मैं अनेक हूँ, क्योंकि आत्मा उन संख्यात प्रदेश वाली है। एक अन्य दृष्टि से भी अनेक हूँ प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मात्मक होता है अतः आत्मा भी द्रव्य होने से अनन्त धर्मात्मक है इस दृष्टि से भी मैं अनेक हूँ।

१५९. साधन का समुचित उपयोग

०९ अक्टूबर १९९७ रतलाम

इन्द्रियों को करण भी कहा गया है। करण का अर्थ होता है साधन। प्रमादी आत्मा की साधन रूप पांचों इन्द्रियाँ चारों तरफ दौड़ती हैं। वे अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में तत्पर रहती हैं। इस लिए प्रमादी पुरुष उस साधन से कर्म बन्धन का अधिकारी बनता है। अप्रमत्त साधक जिसने आत्मा के मूल केन्द्र में अपना निवास कर लिया है उसकी वे साधनभूत इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। वे अपने-अपने विषय में दौड़ नहीं पाती क्योंकि उस समय आत्मा उन्हें ज्ञान की दिशा में नियोजित कर देती है।

इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रहने से विषयों में दौड़ती हैं। आत्मा के अनुशासन में रहने पर ज्ञान व्यापार में व्यापृत हो जाती है। अतः प्राप्त साधन का समुचित उपयोग कर लाभ उठाना चाहिए।

१६०. गुरु चरणाश्रय

१० अक्टूबर १९९७ रतलाम

गुरु के चरण पकड़ने से व्यक्ति तिर जाता है ऐसा कहा जाता है। पर प्रश्न होता है कि ऐसा होने से पुरुषार्थवाद की क्या स्थिति रहेगी? क्या बिना पुरुषार्थ के कार्य सिद्धि होगी? नहीं ऐसा नहीं हो सकता है। कार्य सिद्धि स्वयं के

पुरुषार्थ से होती है यह बात सत्य है किन्तु निमित्त का भी अपना प्रभाव होता है। पर जैसे एक कमजोर व्यक्ति लकड़ी का सहारा लेता है तो मार्ग तय कर लेता है। जैसे एक लता किसी के सहारे से ऊपर उठ जाती है वैसे ही गुरु के चरण आध्यात्मिक साधना में सहयोगी बनते हैं। लता यदि अपने सहारे रूप बांस आदि का (सहारा) आश्रय छोड़ दे तो वह ऊपर नहीं उठ सकती बल्कि नीचे गिर जाएगी। वैसे ही गुरु चरण आश्रय को यदि छोड़ दिया जाए तो साधक अपने गन्तव्य लक्ष्य तक पहुँच नहीं सकता। अतः स्वयं द्वारा पुरुषार्थ करने पर भी निमित्त के रूप में गुरु चरण आश्रय आध्यात्मिक साधना में अत्यन्त आवश्यक है।

१६१. मकड़ जाल

११ अक्टूबर १९९७ रतलाम

चित्तवृत्तियों का उभार किस समय किस रूप में होता है यह प्रमादी पुरुष सहसा जान नहीं पाता। यही कारण है कि प्रमादी व्यक्ति पर चित्तवृत्तियाँ हावी हो जाती हैं। वह आत्म-शक्ति को भूल जाता है। चित्तवृत्तियाँ उसको रिझाती रहती हैं और व्यक्ति उसी में लुभाता रहता है। साथ ही नई-नई वृत्तियों का निर्माण करता रहता है। अतः साधक को चाहिए कि चित्तवृत्तियों के लुभावने दृश्यों से स्वयं को सावधान रखें। सावधान रहने वाला साधक चित्तवृत्तियों के मकड़ जाल में फंस नहीं पाता। अतः साधक को निरन्तर चित्तवृत्तियों का समीक्षण करते रहना चाहिए।

१६२. उपवास

१२ अक्टूबर १९९७, रतलाम

रोग का कारण असाता वेदनीय कर्मों का उदय तो हैं पर उसमें सहयोगी बनती है हमारी जिह्वा । पेट भर जाने पर भी यदि रसना का पोषण करने वाला भोजन सामने आता है तो रसना उसे वी.आई.पी मानकर पेट के अन्दर उतार देती है। रोज-रोज यदि यह स्थिति चलती रहे तो पेट के अन्दर की रचना उसे सहन नहीं कर पाती। वह आंदोलन करने लगती है। इसलिए सप्ताह में यदि एक दिन उसे छुट्टी दे दी जाए तो उसे राहत मिल जाती है अथवा

प्रतिदिन उसके साथ जबरदस्ती नहीं की जाए अर्थात् रोज-रोज ठूस-ठूस कर भोजन नहीं किया जाए तो अन्दर की रचना सक्रिय रूप से कार्य करती रहेगी जिससे अन्दर में विकार की स्थिति नहीं बन पाएगी।

१६३. अनन्त का उपकार

१३ अक्टूबर १९९७, रतलाम

हमारा शरीर पिता की जिस बूंद से निर्मित हुआ उस बूंद का निर्माण सहसा नहीं हुआ है यदि विचार करें तो उसमें अनेक आत्माओं का सत्व रहा हुआ है। क्योंकि पिता को वह शरीर उनके पिता से व उनके पिता को उनके पिता से इस प्रकार लम्बी शृंखला जुड़ी हुई है। इसलिए पिता से प्राप्त होने वाली बूंद व माता से प्राप्त होने वाले रज की यात्रा का सिलसिला बहुत लम्बा है। जैसे मधुमक्खियों द्वारा तैयार किए गए शहद (मधु) में अनेक फूलों का अर्क होता है वैसे ही माता-पिता से जन्म के प्रथम समय में प्राप्त होने वाले ओज आहार में अनेक आत्माओं का सत्व होता है। उस दृष्टि से संसार की अनेक आत्माएँ वर्तमान में चाहे किसी भी अवस्था में रही हों परम्परा से इस आत्मा पर शरीर निर्माण के रूप में उनका उपकार रहा हुआ है। अतः जिन माता-पिताओं का हमारे पर उपकार है क्या वे हमारे नहीं और हम उनके नहीं? स्पष्ट है वे हमारे हैं। हम उनके हैं। ऐसी स्थिति में उनके प्रति हमारा क्या कर्तव्य बनता है, यह चिंतनीय है।

१६४. फ्यूज सही हो

१४ अक्टूबर १९९७, रतलाम

स्विच सही है बल्ब भी सही है पर विद्युत प्रवाह को प्रवाहित करने वाले 'फ्यूज' के रूप में रहा हुआ छोटा सा तार का टुकड़ा यदि सही नहीं है तो वायर में प्रवाहित होती हुई विद्युत बल्ब तक पहुँच नहीं सकती। वैसे ही हमारे भीतर शांति भरी हुई है। वह कहीं बाहर से प्राप्त नहीं होती। अन्दर में होते हुए भी हमें वह प्राप्त क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि फ्यूज के रूप में रहा हुआ तार रूपी मन सही नहीं है। जब तक उस मन रूपी फ्यूज को ठीक नहीं कर लें तब तक वायर अर्थात् अन्तर में रही हुई शांति हमें उपलब्ध नहीं हो सकती।

१६५. विद्या विनिमय से

१५ अक्टूबर १९९७ रतलाम

विद्या विनिमय से प्राप्त होती है। गुरु शिष्य को ज्ञान/विद्या देता है। शिष्य विनिमय की प्रक्रिया में उन्हें अपना जीवन अर्पण करता है। अपने हृदय में गुरु को स्थान देता है। यदि विद्या लेने वाला अपने विद्यादाता गुरु को अपने हृदय में स्थान नहीं दे उनकी सेवा/भक्ति/उपासना नहीं करे तो वह ज्ञान उसके जीवन में सम्यक रूपेण, परिणमन नहीं हो सकता। वह ज्ञान प्रगाढ़ अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। दूध को गाढ़ा बनाना है 'मावा' तक की स्थिति में पहुँचना है तो उसे आग पर चढ़ाना होगा। जैसे आग पर चढ़ा हुआ दूध हिलाते रहने से मावा बन जाता है वैसे ही गुरु की उपासना करते रहने से गुरु द्वारा पुनः-पुनः उसके ज्ञान का आलोकन करवाए जाने से शिष्य का ज्ञान गाढ़ा हो सकता है। जिससे उसके जीवन की चंचल वृत्तियों का शमन होगा और वह जीवन में वस्तुतः शान्ति का अनुभव कर सकेगा, इसलिए विद्या प्राप्त करना है तो विनिमय आवश्यक है।

१६६. "आइच्चेसु अहियं पयासयरा "

१६ अक्टूबर १९९७ रतलाम

लोगस्स का पाठ बोलते हैं उसमें एक पद आया है 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा' आदित्यों-सूर्यों से अधिक प्रकाशवान। सिद्ध भगवान के प्रकाश के संबंध में यह कहा जाता है कि अनन्त सूर्यों से भी उनका प्रकाश अधिक है। इसे कैसे समझें? सूर्य का प्रकाश जितना है उससे बढ़कर और क्या प्रकाश हो सकता है इसका उत्तर यह है कि जम्बू द्वीप जैसे भू-भाग को प्रकाशित करने के लिए भी दो सूर्यों की आवश्यकता होती है। तिरछे लोक में जितने द्वीप-समुद्र हैं उन्हें प्रकाशित करने के लिए असंख्य सूर्यों का प्रकाश वांछित है। जबकि पूरा लोक उससे असंख्यात गुणा है एवं अलोक अनन्त गुणा है। वह सारा क्षेत्र अर्थात् संपूर्ण लोकालोक सिद्ध भगवान के ज्ञान प्रकाश से आलोकित है। उक्त सारे क्षेत्र को देखने के लिए यदि सूर्यों की कल्पना करें तो असंख्य सूर्यों की उपस्थिति भी उक्त सारे क्षेत्र को आलोकित करने में समर्थ नहीं हो सकती। जिस क्षेत्र को अनेकानेक सूर्य के प्रकाश से देखा जाना संभव हो उस क्षेत्र का

यदि कोई अपने ज्ञान से साक्षात्कार करता है तो क्या उसके पास अनन्तानन्त सूर्यो से भी अधिक प्रकाश नहीं है? निश्चित रूप से है। सिद्ध भगवान उक्त समग्र क्षेत्र को देखते हैं। अतः उनके पास अनन्तानन्त सूर्यो से भी अधिक प्रकाश है।

१६७. शान्ति की खोज

१७ अक्टूबर १९९७ रतलाम

शान्ति का स्रोत भीतर होते हुए भी व्यक्ति उसका अनुभव नहीं कर पाता, क्योंकि वह बाहरी पदार्थों में शान्ति की खोज करता है ? उसका कारण स्पष्ट है कि उसकी खोज मुँह में नमक की डली रखे हुए प्राणी के समान हो रही है। मुँह में जब तक नमक की डली रहेगी शक्कर का स्वाद कैसे आ सकता है ? बादशाह ने बीरबल से अपने स्वप्न बताते हुए कहा कि दो कुण्ड थे एक में अमृत एक में गंदगी। मैं अमृत के कुण्ड में था तुम गंदगी के कुण्ड में। बीरबल ने उत्तर दिया मैंने भी आप जैसा ही स्वप्न देखा किन्तु उसमें थोड़ा अन्तर था । वह अन्तर यह था कि कुण्ड से निकलने के बाद आप मुझे चाट रहे थे, और मैं आपको चाट रहा था जैसे अमृत के कुण्ड में रहकर भी गंदगी के कुण्ड वाले को चाटे तो उसे अमृत का स्वाद अनुभव कैसे हो सकता है ? वैसे ही व्यक्ति शान्ति के कुण्ड में रहकर भी अशान्ति के कुण्ड में पड़े हुए पदार्थों की चाह करता है । यही कारण है कि व्यक्ति शान्ति का स्वामी होता हुआ भी उसका अनुभव कर नहीं पाता।

१६८. प्राण किसके अटके ?

१८ अक्टूबर १९९७ रतलाम

मरणासन्न व्यक्ति को खाट पर नहीं रखा जाता उसे नीचे सुला दिया जाता है। कहा यह जाता है कि खाट पर वह मर नहीं सकता उसके प्राण अटक जाएंगे। इसमें कितना सत्य है? यह तो मैं नहीं कह सकता। पर हाँ, पारिवारिकजनों के प्राण अवश्य अटकते होंगे क्योंकि यदि खाट पर मृत्यु होती है तो वह खाट हरिजन को देनी पड़ती हैं। क्योंकि प्रायः ऐसी रूढ़ि है कि जिस पर स्वर्गवासी हो वह खाट-बिछौना आदि हरिजन को दिया जाए। अतः

मरणासन्न के प्राण खाट में अटके हैं, या नहीं, किन्तु पारिवारिक जनों के प्राण अटक रहे होंगे।

१६९. बुद्धि की धृष्टता

१९ अक्टूबर १९९७ रतलाम

वीतराग वाणी भी दुधारी तलवार के रूप में कही जा सकती है। वीतराग वाणी से आत्मा संसार-सागर से तिरती है। यह तो सुनते आये हैं, पर वीतराग वाणी से आत्मा संसार में भटक भी सकती है यह कैसे संभव है? इसका समाधान यह है कि भगवान ने बाईस परिषदों में एक परिषद प्रज्ञा परिषद भी कहा है उसका तात्पर्य है कि अपनी प्रज्ञा का अपने ज्ञान का जिसे अजीर्ण हो जाए, जो अपने ज्ञान को पचा नहीं सके, वह अपने उस ज्ञान का अहंकार करता हुआ ममकार की अवस्थाओं से संयोजित हो जाता है। ममकार में पड़ा व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं माना जाता। अतः वीतराग वाणी का अध्येता भी जब परिषद की पछाड़ खा कर संभल नहीं पाता है तो वह पछाड़ उसे संसार में रोक लेती है। वस्तुतः वीतराग वाणी तो अमृत है किन्तु मनुष्य जब अपनी बुद्धि के जहर को उसमें घोल देता है तो वह उस बुद्धि से अपने लिए शास्त्र को भी शस्त्र बना डालता है। यह उसकी बुद्धि की ही धृष्टता है।

१७०. अपने हक की रोटी

२० अक्टूबर १९९७, रतलाम

व्यक्ति शान्ति चाहता है पर उसके कार्य अशान्ति के होते हैं। जब बीज अशान्ति के बोए जाएंगे तो शान्ति रूपी फल कैसे मिल सकता है। व्यक्ति यदि हक की रोटी खाना सीख जाए तो उसके जीवन में कभी भी अशान्ति नहीं आ सकती। अशान्ति तब प्रारम्भ होती है, जब व्यक्ति अन्य के हक की रोटी को अपनी मानकर उसपर अधिकार जमाता है। अधिकांश भाई कहते हैं “महाराज माला में सामायिक में मन नहीं लगता।” मन लग सकता है पूर्णिया श्रावक का मन लगता ही था क्योंकि वह हक की रोटी खाता था। जिससे उसका जीवन शान्त था। अशान्ति उसके निकट भी नहीं आ पाती थी। पर एक

छाणा (गोबर का कंडा) बिना हक का आ गया तो शान्ति भंग हो गई। इससे सिद्ध होता है कि शान्ति चाहने वालों को दूसरों के हक की रोटी नहीं खानी चाहिये।

१७१. विकथा का दौरा

२० अक्टूबर १९९७ रतलाम

मोह राजा बेचैन हो गए। श्रीमती विकथा ने पूछा – क्या बात है ?
स्वामीन् ! आज बेचैनी क्यों ?

प्रिये! मेरा एक छत्र राज्य चल रहा था पर उसमें से कुछ व्यक्ति विद्रोह करने लगे हैं। वे धर्म-ध्यान की बातें करने लगे हैं। अतः वो मेरी सत्ता को चुनौती दे रहे हैं। ऐसा ही यदि होता रहा तो मेरी कुर्सी खिसक जायेगी। मेरा कोई अस्तित्व नहीं रह पाएगा। यही मेरी बेचैनी का मूल कारण है।

विकथा ने कहा – पतिदेव आप भी कैसी चिंता पाल रहे हैं अभी तो आपकी दासी मौजूद है। उसके रहते कौन आपकी सत्ता को चुनौती दे सकता है ? आप निश्चित रहिए। मेरे रहते आपके अस्तित्व को कोई खतरा नहीं हो सकता।

विकथा कुलाचें भरती दौरा करने लगी। मोह राजा से तथाकथित रूप से अपना किनारा करने वाले, धर्म के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ धार्मिक जन विकथा से प्रभावित हो गये। ऊपरी बाना धार्मिक का ही था, पर अन्दरूनी कार्य विकथा द्वारा संचालित होने लगा है। परिणामस्वरूप मोहराजा का गढ़ और मजबूत हो गया ।

इसलिए धर्म के स्वरूप को जानकर धर्म क्रिया करनी चाहिये अन्यथा हम धर्म के गढ़ में प्रवेश नहीं कर सकेंगे बल्कि विकथा के द्वारा हमें मोहराजा के गढ़ में प्रवेश करा दिया जाएगा।

१७२. साधना का सोपान-शोधन

२१ अक्टूबर १९९७ रतलाम

भगवन्! साधना का स्वरूप क्या है? गुरु ने कहा- शोधन। शोधन कैसे किया जाय? उस पर शिष्य ने खोज प्रारम्भ की, अनुप्रेक्षा की। उसी में उसे सूत्र हाथ लगा 'अईयं पडिक्कमामि' अतीत का प्रतिक्रमण करो। अर्थात् अपनी भूमिका में जहाँ कहीं कठोरता है, पत्थर है, काँटे हैं, उन्हें अलग करके मनोभूमि को शुद्ध करो क्योंकि बीज नरम भूमि में ही अंकुरित हो पाते हैं। चट्टान पर बीज अंकुरित नहीं हो सकते। नीचे जड़ें फैले, वहाँ तक की भूमि कम से कम नरम होनी ही चाहिए। वैसे ही जीवन रूपी भूमि के नरम होने पर ही धर्म विकसित हो सकता है और वह नरमाई प्राप्त हो सकती है अतीत के सारे अपराधों, दोषों का प्रतिक्रमण करने से। अतः वस्तुतः साधना का स्वरूप या प्रथम सोपान है 'शोधन'।

१७३. चेप पैदा नहीं हो

२२ अक्टूबर १९९७ रतलाम

गोंद का थोड़ा चेप लग जाए तो कागज, रेत व अन्यान्य पदार्थ चिपकने लगते हैं। वैसे ही यदि परिग्रह (पैसों का) मूर्च्छा भाव से आत्मा के साथ चिपकाव हो गया तो आत्मा की अहिंसा रूपी चमड़ी सुरक्षित नहीं रह पाएगी। उसमें एलर्जी हो जाएगी। पैसा विनिमय का साधन है। जीवन व्यवहार में विनिमय एक आवश्यक अंग माना जा सकता है। इसलिए पैसे को मात्र विनिमय का साधन मानकर चलना चाहिए, मूर्च्छा भाव रूपी चेप पैदा नहीं होने देना चाहिए। मूर्च्छा भाव रूपी चेप न हो तो पैसा रहे या नहीं रहे व्यक्ति को कोई फर्क नहीं पड़ता पर चेप लग जाए तो मनुष्य अपने आप को दुःखी बना लेगा। अतः चेप पैदा न, हो ऐसा प्रत्येक क्षण ध्यान रखना चाहिए।

१७४. अमृत सिद्धि योग

२३ अक्टूबर १९९७, रतलाम

आज गुरु पुष्य है यानि अमृत सिद्धि योग हैं। यह अमृत सिद्धि योग बहुत कम आता है। यद्यपि पुष्य नक्षत्र तो हर २७-२८ दिन में आता है उस समय चन्द्र का कर्क राशि में योग रहता है अर्थात् कर्क राशि व पुष्य नक्षत्र का संबंध है। पुष्य नक्षत्र कर्क राशि में ही रहता है। पर गुरुवार का योग होना महत्वपूर्ण हो गया। गुरुवार के संयोग से अमृत सिद्धि योग बन गया। आत्मा में कर्क राशि रूप सम्यक्त्व और पुष्य नक्षत्र रूप ज्ञान तो प्रकट हो सकता है क्योंकि दोनों सहभावी है। जहां सम्यक् दर्शन है वहाँ सम्यग् ज्ञान है जहाँ ज्ञान सम्यग् है वहाँ सम्यग् दर्शन भी निश्चित है, पर गुरुवार के तुल्य चारित्र का यदि संयोग बन जाए तो आत्मा के लिए अमृत सिद्धि योग की अवस्था बन सकती है। चारित्र के अभाव में अमृत नहीं हो सकता। चारित्र के योग से आत्मा अमृत हो जाता है। अमृत अर्थात् मृत्यु जिसके नजदीक भी नहीं फटक सकती। अतः गुरु पुष्य से जैसे अमृत योग बनता है वैसे ही ज्ञान रूपी पुष्य के साथ चारित्र रूपी गुरु का संयोग बनाने का प्रयत्न करें ताकि आत्मा का अमृत सिद्धि योग उजागर हो जाए।

१७५. प्रवृत्ति-निवृत्ति की उपादेयता

२४ अक्टूबर १९९७ रतलाम

एकान्त रूप से न प्रवृत्ति ही उचित है न निवृत्ति ही। प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्वरूप को जानना आवश्यक है। प्रवृत्ति हो चाहे निवृत्ति, जो हमें संयमित करती हो, नियमित करती हो, हमें स्वस्थता प्रदान करती हो, वही हमारे लिए उपादेय है। एक आलसी व्यक्ति कोई भी काम करना नहीं चाहता। एक कायर व्यक्ति युद्ध क्षेत्र में जा नहीं पाता इतने मात्र से न तो आलसी निवृत्त हो गया और न कायर अहिंसक। वैसे ही जो निवृत्ति आत्म गुणों को प्रदीप्त न कर सके उस निवृत्ति का कोई महत्व नहीं। निवृत्ति होनी चाहिए असंयम से। असंयम अटकाने वाला है जो हमारी गति का अवरोध करें, उससे निवृत्त होना चाहिए ताकि हमारी रफ्तार सही रह सके। प्रवृत्ति के बिना जीवनयापन नहीं हो सकता। प्रवृत्ति के अभाव में व्यक्ति का अस्तित्व टिक नहीं सकता। इसलिए प्रवृत्ति हो पर वह

संयम में हो। संयम अर्थात् गति। जो व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन को गति दे सके, ऐसे संयम में हमारी प्रवृत्ति हो। क्रिया मात्र को गति नहीं समझना चाहिए। तेली का बैल बहुत घूमता है पर उसे सम्यक् गति नहीं कहा जा सकता। अतः अध्यात्म जीवन में जो गति देने वाला है ऐसे संयम में प्रवृत्ति हो।

१७६. धर्म घर है

२५ अक्टूबर १९९७, रतलाम

धर्म किया नहीं जा सकता। ऐसा नहीं होता कि धर्म को हम कहीं से आयात कर लेंगे। धर्म तो 'होने' में है। होने का अर्थ स्वयं में होना है। जिसका जो रूप है उस रूप में हो जाना धर्म है। धर्म से यदि कोई लाभ की, आय की अपेक्षा करे तो वह दुराशा मात्र है। धर्म का सौदा बड़ा विचित्र है, वहाँ लाभ के स्थान पर जो जमाकर रखा है, इकट्ठा कर रखा है, उसको छोड़ना होता है। आय फैक्ट्री, दुकान, ऑफिस में होगी, घर में नहीं। धर्म का अर्थ निज घर में होना है। राग-द्वेष फैक्ट्री है, जो निरन्तर उत्पादन कर रही है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये मुनीम अथवा क्रय अधिकारी है जो फैक्ट्री के लिए कच्चा माल खरीदते हैं। योग दलाल है जो क्रय व विक्रय दोनों में सहयोगी हो जाता है। पर 'धर्म' घर है। स्वयं में होना है। वहां न लाभ है, न हानि है। उसका होना मात्र पर्याप्त है। उसे कुछ बनना या बनाना नहीं पड़ता। जिसका अपना रूप सही नहीं लगता वही अपना, मेक-अप कर सकता है। जिसका अपना रूप सही है उसे मेक-अप की आवश्यकता ही क्या है? धर्म स्व स्वरूप है, उसे बनाने या सजाने की आवश्यकता ही नहीं है।

१७७. स्पन्दन नहीं होने दें

२६ अक्टूबर १९९७, रतलाम

कार्मण वर्गणा हम पर आक्रमण कब करती है ? जब हम उसे अपनी तरफ आकृष्ट करते हैं। उसको आकृष्ट करने वाले हैं- 'हमारे योग'। वे जब भी अपनी प्रवृत्ति करते हैं, उनमें परिस्पन्दन होता है और कार्मण वर्गणा को अपनी तरफ आकर्षित करते हैं। कार्मण वर्गणाओं के लिए वह एक प्रकार का निमन्त्रण

है। जब उसे उसके स्थान से हटाकर हम अपने यहाँ पनाह देते हैं तो फिर वे अनुबन्ध के अनुसार हमारी आत्मा के साथ रहते हैं। यदि हम अपने मन, वचन, काया को संवृत रखें उनमें परिस्पन्दन नहीं होने दें, तो कर्मण वर्गणा न आकर्षित होंगी और न ही हमें प्रभावित कर सकेगी।

१७८. पीछे मत देखो

२६ अक्टूबर १९९७ रतलाम

इच्छाओं को छोड़कर पीछे मत देखो। यदि पीछे देखा तो वे तुम्हें अपनी और आकर्षित करने के हर संभव प्रयास करेंगी। उनके प्रयास करने का तात्पर्य यह होगा कि रह रहकर तुम्हारे मन में उनकी स्मृति उभरती रहेगी और तुम उनमें एकमेक होते रहोगे। जैसे ही तुम उनमें घुलमिल नहीं कि वे इच्छाएँ तुम्हें पहले से और अधिक रूप में तुम्हें जकड़ने का प्रयत्न करेगी। फिर तुम्हारे लिए उन्हें छोड़ना कठिन हो जाएगा।

ज्ञाता-धर्म-कथांग सूत्र में कहा है कि यक्ष जिनरक्षित जिनपाल को अपने पीठ पर बिठाकर ले जा रहा था। उसने कहा पीछे मुड़कर मत देखना। रमणा देवी ने करुण पुकार की। जिनरक्षित ने पीछे देखा और वह यक्ष द्वारा गिरा दिया गया। वह रयणा देवी की गिरफ्त में आ गया है। यक्ष हमारा संकल्प है। रयणा देवी इच्छा है। जिन रक्षित और जिन पाल हमारे मन की अवस्थाएँ हैं। यदि इच्छा में मन की अवस्था डोल गई तो संकल्प पर टिके नहीं रग सकेंगे अतः उत्तम है जिन पाल जैसी दृढ मनोवृत्ति से त्यक्त इच्छाओं की तरफ देखें ही नहीं उन्हें स्मृति पटल पर उभारें ही नहीं।

१७९. जाति का तिरस्कार असह्य

२६ अक्टूबर १९९७ रतलाम

विषय-वासनाओं का जो उभार वर्तमान में देखा जा रहा है उसके कई कारण हो सकते हैं। उनमें एक कारण स्त्रियों के अर्ध-नग्न अवस्था के चित्र भी है। आज विज्ञापनों में भी वैसे ही चित्र दिखाए जाते हैं। घरों की दिवारों पर दृष्टिपात करें तो कुछ वैसे ही अर्ध नग्न चित्र दिखाई पड़ेंगे। ऐसी स्थिति में मनुष्य का सहज ही आकर्षण उस ओर बन जाता है। वह उन्हीं भावों में घुलता रहता है

और वासना का शिकार हो जाता है। बड़े ताज़ुब की बात है कि घर की महिलाएँ भी उन चित्रों को वहाँ रखने से नहीं रोकती। वे यदि इन्कार कर दें तो क्या हिम्मत पुरुषों की कि वे ऐसे विकारी हाव-भाव वाले चित्र दीवारों पर लगा सकें।

अतः बहनों को आवाज बुलंद करनी चाहिए कि हमारी जाति का ऐसा खुला तिरस्कार हम कभी सहन नहीं कर सकती।

१८०. दुःख से बचाव

२७ अक्टूबर १९९७ रतलाम

दुःखों का मूल कारण औदयिक भाव है। औदयिक भाव का तात्पर्य कर्मों के उदय से बनने वाला हमारा भाव। कर्मों के उदय से व्यक्ति राग-द्वेष/कषाय में प्रवृत्त होता है उस समय वह यह सोचता है कि अमुक व्यक्ति मुझे दुःख दे रहा है पर यथार्थ में दुःख उसका स्वयं का उपार्जित है। दूसरा व्यक्ति तो मात्र निमित्त है।

वैसे व्यवहार दृष्टि से दुःख के चार प्रकार हो सकते हैं –

- स्वकृत
 - परकृत
 - चिन्त्य
 - अचिन्त्य
- स्वकृत – सहसा हार्ट अटेक आ जाना। रात को सोया सुबह उठ नहीं सका, लकवा हो गया उससे जो दुःख हुआ वह स्वकृत दुःख की श्रेणी में है।
 - परकृत – सर्प, बिच्छू ने काट लिया उससे होने वाला दुःख परकृत की श्रेणी में है।
 - चिन्त्य – बिटिया की शादी में या अन्य अवस्था में अमुक-अमुक प्रकार की कठिनाइयाँ आ सकती हैं। उन कठिनाइयों की सोच से जो दुःख होता है वह चिन्त्य कहा जाता है।
 - अचिन्त्य – अकस्मात किसी दुःख का आ टपकना जैसे जवान पुत्र की अकस्मात मृत्यु, घर में आग लग जाना, दुकान लुट जाना आदि।

यद्यपि व्यवहार दृष्टि से हमें इनके कारण भिन्न-भिन्न दृष्टिगत होते हैं पर मूल में बाह्य कारण तो मात्र निमित्त है। आभ्यन्तर कारण हमारा औदयिक भाव है क्योंकि कई व्यक्ति इन बाह्य कारणों के उपस्थित होने पर भी दुःखानुभूति नहीं करते बल्कि सोचते हैं यह तो मैंने जैसा बांधा है वैसा ही भोग रहा हूँ। दूसरे तो मात्र निमित्त है। जैसे अंधेरी रात में चन्द्रोदय हो जाता है तो व्यक्ति उस प्रकाश से ठोकरे नहीं खाता, अन्धेरा होते हुए भी वह सही स्थान पर पहुँच जाता है। वैसे ही सम्यक्त्व रूपी क्षयोपशम आदि भावों का चन्द्रोदय हो जाए तो औदयिक भावरूपी अंधेरी निशा में भी व्यक्ति दुःखी नहीं होगा बल्कि स्वयं को सम्यक्त्व के प्रकाश में सुरक्षित कर सकता है। अतः औदयिक भाव से होने वाले दुःखों में समभाव को रखने का प्रयत्न किया जाए तो व्यक्ति दुःख से अपने को बचा सकता है।

१८१. निःस्वार्थ भाव

२८ अक्टूबर १९९७ रतलाम

धार्मिक क्रियाओं के साथ फल की आकांक्षाओं को मत जोड़ो क्योंकि तुम उस क्रिया के अप्रतिम फल के ज्ञाता नहीं हो। रत्न की कीमत जौहरी ही आँक सकता है कुंजड़ा (सब्जी बेचते वाला) नहीं। धार्मिक क्रियाओं का फल अचिन्त्य है उनमें भौतिक फल की कामना करना स्वयं को महा फल से वंचित करना है।

आज के दिन को धन तेरस के रूप में मनाया जा रहा है। लोग क्या करेंगे? बर्तन आदि की खरीददारी लेंगे, सुबह दुकाने जल्दी खोलकर चाहेंगे कि ग्राहक आ जाए और माल की खूब बिक्री हो जाए जिससे धन लाभ की स्थिति बन जाए। पर कर्मरूपी बैंक में यदि पुण्य रूपी पैसा जमा नहीं है तो धन का भी लाभ नहीं मिल सकता। श्रेष्ठी शालिभद्र स्वयं कोई व्यापार नहीं करता था। घर में स्वर्ग से प्रतिदिन तैंतीस-तैंतीस पेटियां उतरती थी। उसने इसके लिए किसी देव की आराधना भी नहीं की थी किन्तु उसके पुण्यों का परिणाम था कि देव स्वतः उसके घर में धन की पेटियां उतारने लगे। शालिभद्र ने ऐसा क्या किया? जिससे वह उतना लाभान्वित हुआ। उसने पूर्व भव में सुपात्र दान शुभ भाव से दिया था उसी का परिणाम था कि घर में प्रतिदिन धन की पेटियां उतर रही थी,

पर उसने दान देते समय ऐसी कोई भावना नहीं संजोई कि इस दान का मुझे अमुक फल मिले। सम्राट श्रेणिक ने अपने एक नरक के बन्धन काटने के लिए पुनः दूसरी बार वन्दन करने को कहा तो भगवान ने कहा श्रेणिक अब वह अर्थ समर्थ नहीं है क्योंकि इस वंदना में आकांक्षा का भाव जुड़ गया। अतः यह नहीं सोचें कि आज धनतेरस है, आज संतों को दान देंगे तो उसका हमें अधिक फल मिलेगा, शालिभद्र जैसी ऋद्धि मिल जाएगी आदि। तात्पर्य यह है कि कुछ धार्मिक क्रिया की जाए, उनको निःस्वार्थ भाव से किया जाए।

वर्णमाला का प्रथम अक्षर 'अ' है वैसे ही धर्म का प्रथम प्रवेश दान से है। आप आगम उठाकर देखें ऐसी बहुत सी आत्माएँ मिलेगी, जिन्होंने सुपात्रदान/अभयदान देकर संसार परित किया।

अतः धन तेरस मनाना है तो निःस्वार्थ भाव से दान आदि धार्मिक क्रियाओं से स्वयं को संयुक्त करना चाहिए।

१८२. श्रुत-समाधि

१९ अगस्त १९९८, उदयपुर

आज मानस तंत्र उद्वेलित रहा । मौन रख कर स्वाध्याय में अधिक से अधिक समय का नियोजन रखा जिससे अनावश्यक नैराश्य भावों का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया । बल्कि श्रुत से समाधि की अवस्था का स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टि गत हुआ। यद्यपि ग्रन्थि विमोचन की स्थिति नहीं बन पाई फिर भी स्थिति संतोष जनक रही ।

मानसिक भावों का कुछ विवरण कल नोट किया था जिसे आज गुरुदेव के चरणों में प्रस्तुत भी किया । भगवान महावीर की धर्म प्रज्ञप्ति से विपरीत अवस्था आत्मा के लिए कष्टप्रद है ।

१८३. विनाश के कगार पर

२१ अगस्त १९९८, उदयपुर

रजिस्टर्ड. कल्लखानों की संख्या भले ही कम हो पर अन्य अनेक कल्लखाने चल रहे हैं। जिन्हें सभ्य संस्कृति कल्लखाना ही नहीं मानती, उनमें

मानव देह का कत्ल होता है। और तो क्या मानव देह का कत्ल करने वाले 'कसाई' के बजाय डॉक्टर कहलाते हैं। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार एक वर्ष में लाखों मानवों की देह को कत्ल कर दिया जाता है। यह और भी दुःख का विषय है कि ऐसा कत्ल सभ्य संस्कृति का अंग बन रहा है। यदि शीघ्र ही इस दिशा में कोई ठोस उपाय नहीं सोचा गया तो संस्कृति को विनाश के कगार पर पहुँचने से रोक पाना संभव नहीं होगा।

१८४. परतों में छिपी आत्मा

२२ अगस्त १९९८, उदयपुर

“आत्मा की खोज”; विषय बड़ा मनभावन है, पर वस्तुतः व्यक्ति खोज कर कहाँ पाता है? आत्मा के अन्वेषण हेतु शास्त्रों में मार्गणाओं का उल्लेख है उन पर चिंतन करें तो आत्मा से पहले उस पर ढकी परतों को जानना भी आवश्यक है। परतों के रूप में स्थूल व सूक्ष्म शरीर है। विचार शरीर भी एक परत है। वह परत स्थूल शरीर की अपेक्षा बहुत बोझिल है। उसमें उलझने ही उलझने हैं। जहाँ एक तरफ वह कुछ सुलझी हुई भी दृष्टिगत होती है, पर उस सुलझी हुई अवस्था का छोर भी उस उलझी हुई अवस्था से संयुक्त है अर्थात् वह भी उलझनों से पूर्ण मुक्त नहीं है। अतः आत्मा की खोज के पहले इन परतों को जानना भी आवश्यक है।

१८५. घातक-कुण्ठा

२३ अगस्त १९९८, उदयपुर

मानसिक कुण्ठा के कारण अनेक हैं अथवा यों भी कहा जा सकता है कि जब-जब व्यक्ति उन कारणों से स्पृष्ट हो जाता है वे ही उसके मानस तंत्र को कुण्ठित करने में कामयाब हो जाते हैं। मानसिक कुण्ठा को शीघ्र ही समाप्त कर देना चाहिए। प्रयत्न तो यह हो कि मानस तंत्र कुण्ठा ग्रस्त हो ही नहीं। कदाचित् हो जाए तो उससे शीघ्र ही छुटकारा पा लेना चाहिए। उसको यदि पोषण मिल गया तो वह आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक घातक सिद्ध होगा।

१८६. स्वर्णिम वेला

२४ अगस्त १९९८, उदयपुर

जीवन की स्वर्णिम वेला कौनसी? यह एक चिंतनीय बिन्दु है। कोई सुहाग रात को स्वर्णिम क्षण मानता है तो कोई सन्तान-प्राप्ति के अवसर को। कोई-कोई धन, ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा की प्राप्ति को स्वर्णिम क्षण स्थापित करते हैं। ऐसे अनेक अवसर जीवन में आते हैं, जिन्हें व्यक्ति स्वर्णिम मान लेता है पर चिंतन किया जाए कि क्या उक्त सारी अवस्थाएँ स्वर्णिम हो सकती हैं? क्या उक्त क्षण कभी अवसाद में नहीं बदलते? यदि इन क्षणों का विषाद रूप में परिवर्तन हो जाता है तो स्वर्णिम कैसे? फिर स्वर्णिम क्षण का स्वरूप क्या? स्वर्णिम क्षण वे हैं जिन क्षणों में व्यक्ति ने जीवन का निज का अनुभव किया हो। वे क्षण अनमोल हो गए, उसके स्वयं के हो गए, उन क्षणों में विषाद नहीं आ सकता। जब भी वे क्षण स्मृति में उभरेंगे उनसे अहोभाव ही प्रकट होगा।

अतः चिंतन करें, हम, जीवन में कभी भी ऐसे स्वर्णिम क्षणों में उपस्थित हुए या नहीं? अर्थात् जीवन में स्वर्णिम वेला आई या नहीं?

१८७. विषाद में स्वाद?

१६ सितम्बर १९९८, उदयपुर

रे मन! तुझे विषाद में क्यों स्वाद आ रहा है? विषाद में रमण करने में तुझे क्या मज़ा आ रहा है? तू स्वयं ही विषाद में रमण करता है, फिर स्वयं ही हताश व निराश हो जाता है। पतंगे की तरह पुनः पुनः तू उसी विषाद का स्वाद लेने को आतुर हो उठता है और फिर उसी निराशा के झूले में झूलने लगता है। आखिर तेरा यह खेल कब तक चलता रहेगा, कब तक तू इस प्रकार रमण करता रहेगा? और कब विषाद तुझे बेस्वाद लगेगा।

१८८. कर्तव्य के प्रति जागरूक

१७ सितम्बर १९९८, उदयपुर

क्षयोपशम रूप उपादान कारण मिला, पुण्य का संयोग हुआ, यश नाम कर्म का भी प्रसंग उपस्थित है। ऐसे क्षण में अपने कर्तव्य का विस्मरण करना कथमपि उचित नहीं है। बल्कि ऐसे समय में कर्तव्य के प्रति सतत् जागरूक होना चाहिए।

१८९. परिणमन में परिवर्तन

१८ सितम्बर १९९८, उदयपुर

निमित्त कारणों से उपादान के परिणमन में भी परिवर्तन हो जाया करता है। मिट्टी एक है उसका परिणमन घट के रूप में होता है। किन्तु निमित्त कारण से घट रूप उपादान परिणमन में भी परिवर्तन हो जाता है। कोई घट छोटा तो कोई बड़ा, कोई ऊँचा तो कोई नीचा, टेढ़ा-मेढ़ा आदि अनेक आकारों को धारण कर लेता है अतः निमित्त से उपादान के परिणमन में परिवर्तन का प्रसंग बन जाता है।

१९०. निषेध ही नहीं विधेय भी

२० सितम्बर १९९८, उदयपुर

जैन धर्म पर यह एक आरोप है कि वह निषेधपरक है वहाँ विधेय रूप में कथन प्राप्त नहीं होता। जैसे हिंसा नहीं करना, झूठ नहीं बोलना आदि। जीवन निर्माण के लिए लक्ष्य, उद्देश्य होना आवश्यक है किन्तु निषेधपरक अवस्था में लक्ष्य भी निर्धारित करना कठिन है, ऐसी स्थिति में जीवन का निर्माण संभव नहीं। यह आरोप जैन धर्म को नहीं समझने वाला ही लगा सकता है जिसने जैन धर्म के स्वरूप को जाना है जिसने आत्मा के स्वरूप का ज्ञान कर लिया वह जान सकता है कि जैन धर्म में विधेय तत्त्व का भी अभाव नहीं है उदाहरणार्थ दशविध यति धर्म एवं 'एगओ य पवत्तणं' (संगम में प्रवृत्ति) आदि।

१९१. धर्म शुभ या अशुभ

२१ सितम्बर १९९८, उदयपुर

पाप अशुभ कर्म रूप व पुण्य शुभ कर्म रूप है फिर धर्म का स्वरूप क्या है? वह शुभ है या अशुभ। यदि उसे अशुभ रूप माना जाए तो वह पाप रूप ही है। शुभ भी माना नहीं जा सकता। शुभ मानने पर संकर दोष की स्थिति बन जाएगी। क्योंकि जो पुण्य है वही धर्म हो जाएगा। अतः धर्म का स्वरूप क्या? जो शुभाशुभ कर्म पुण्य पाप रूप अवस्था वाला है उसका आत्मा से हटने पर आत्मा का जो स्वरूप उजागर होता है वह धर्म है, अथवा उस स्वरूप को प्रकट करने

के लिए जो मार्ग अपनाया जाए, जो साधन अपनाया जाय वह भी धर्म कहलाता है। यहाँ एक प्रकार से कारण में कार्य को उपचरित कर लिया जाता है।

१९२. चादर घिसने नहीं

२२ सितम्बर १९९८, उदयपुर

आज आचार्य देव का चादर प्रदान दिवस है राणाजी के राज प्रांगण में सूर्य गोखड़े के नीचे शान्त क्रान्ति के अग्रदूत आचार्य श्री गणेशलालजी म.सा. ने अपने कर कमलों से वर्तमान आचार्य श्री जी (नानालालजी म.सा.) को चादर प्रदान की थी। जैसे चादर लज्जा ढकने का काम करती है वैसे ही चतुर्विध संघ की लाज रखने वाली यह चादर है ऐसी चादर घिसने नहीं। घिसने पर अन्दर की 'लाज' बाहर झलक सकती है अतः चादर घिस न जाए यह ध्यान आवश्यक है। बाहरी चादर तो जीर्णशीर्ण होने वाली है उसे घिसने से कोई रोक भी नहीं सकता। परंतु भाव रूपी चादर जो संघ का सुरक्षा कवच रूप है उसकी सुरक्षा हो। इधर-उधर की बातों का व्यसन जिसे है वह उस चादर की सुरक्षा कैसे कर सकता है। अतः इधर-उधर की बे सिर पैर की बातों को विराम मिले तभी सही दिशा का नियोजन बन सकता है।

१९३. पकड़ रूपी फोड़ा

२३ सितम्बर १९९८, उदयपुर

व्यक्ति के अन्दर का दर्द बाहर व्यक्त हो जाता है। वह स्वयं को बाहर से बहुत सहज रखने का प्रयत्न करता है पर दर्द आखिर दर्द ही है। वह तो समय पाकर अपनी अभिव्यक्ति चेहरे पर दर्ज करा ही देता है। वचन को भी माध्यम बना लेता है। यदि हम चाहे कि सदा सहज रहें तो भीतर में दर्द को पलने ही नहीं दिया जाए? दर्द होता है पकड़ से। जहाँ पकड़ बनी नहीं कि उस पकड़ रूपी फोड़े में मवाद पड़ जाता है व दर्द शुरू हो जाता है। अतः दर्द रहित बनना है तो स्वयं को पकड़ रहित बनाना आवश्यक है।

१९४. चौकन्नी-अवस्था

२४ सितम्बर १९९८, उदयपुर

मानसिक उद्वेलन का मूल कारण आंतरिक कमजोरी है अन्तर में जो कोना नरम है उसके प्रति व्यक्ति चौकन्ना रहता है। वह प्रयत्न करता है कि किसी को मेरे उस नरम कोने की भनक नहीं पड जाए। पर वह यह नहीं सोच पाता कि उसकी चौकन्नी अवस्था ही उसे सन्देह के घेरे में डाल देती है। चोर की दाढ़ी में तिनका उसका उदाहरण है।

१९५. जैन धर्म का कथन

२५ सितम्बर १९९८, उदयपुर

जैन धर्म कहता है कि दूसरे मत को नहीं सुनना। उसका परिचय नहीं करना। क्या यह कूप-मण्डूक जैसी बात नहीं है? क्या हमारा श्रोता इतना कमजोर जो दूसरे को सुनकर दूसरे का हो जाय? यदि इतने ही कच्चे श्रोता है तो वे क्या निहाल कर पायेंगे? इस संदर्भ में विचार करें तो स्थिति स्पष्ट हो सकती है।

यदि पूछा जाय घर के दरवाजे क्यों लगाए जाते हैं? खेत के बाड़ क्यों लगाई जाती है? इसका उत्तर यही आयेगा कि घर के दरवाजे पर कपाट व खेत को बाड़ सुरक्षा के लिए लगाई जाती है। जैसे यहाँ हमारी सोच है वैसा ही यदि जैन धर्म के कथन पर सोचा जाय तो उसका तात्पर्य है कि अनादिकाल से जिस मार्ग में गमन करने की आदत पड़ी हुई होती है, उसे मोड़ देने के लिए उस मार्ग को छुड़ाना पड़ता है। रोग को ठीक करने के लिए दवा के साथ पथ्य भी आवश्यक है। इसी प्रकार सुरक्षा एवं पथ्य के रूप में जैन धर्म कहता है कि परपासण्डपसंसा, परपासण्डसंथुवों करना उचित नहीं है। इसमें अनेक जीवों के प्रति भलाई के भाव निहित है।

१९६. मानव तन का उपयोग

२६ सितम्बर १९९८, उदयपुर

हे आत्मन्! अनन्त-अनन्त पुण्य के योग से यह मानव तन मिला है। इसकी अवहेलना नहीं हो। इसके लिए बहुत सारी पुण्य पुंज रूप जो कीमत चुकानी पड़ी है, उस कीमत को ध्यान में रखकर ही इस देह का उपयोग होना चाहिए। इस तन का उपयोग यदि नाकुछ भौतिक पदार्थों के लिए किया गया तो वह भारी भूल होगी। इस बेशकीमती तन से आत्मिक-शक्तियों का जागरण हो इस दिशा में प्रयत्न होना चाहिए।

१९७. आसुरी वृत्तियाँ रूप रावण

०१ अक्टूबर १९९८, उदयपुर

आज विजया दशमी है। रावण को मार-मार कर भी आज लाखों वर्षों में जनता उसे मार नहीं पाई है। वस्तुतः यह बाहर के रावण की बात नहीं है वह तो मात्र प्रतीक है। यह बात आन्तरिक रावण के साथ लागू पड़ती है। अपनी पाशविक वृत्तियों के कारण क्षुब्ध बना हुआ मानव उनसे परेशान हो उनसे मुक्ति चाहता है। पर पुनः पुनः उन वृत्तियों को छोड़ने के बजाय वह पोषण करता रहता है। यही कारण है कि आज तक रावण जिन्दा है, क्योंकि रावण को हमने बहुत गहरे संस्कारों में जमा लिया है। यदि आन्तरिक आसुरी वृत्तियों रूप रावण को समाप्त कर दिया तो बाहर के रावण को नष्ट करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी।

१९८. असली रूप ओझल है

०२ अक्टूबर १९९८, उदयपुर

रस्सी में पड़ी गांठ को हम देखते हैं अत्यधिक गांठें होने पर रस्सी मात्र गांठों का पिण्ड रूप ही प्रतीत होती है। रस्सी का रूप ओझल हो जाता है। यही दशा हमारे अन्तर की है।

यद्यपि गांठों का रस्सी से स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं है पर रस्सी के आधार पर उनका अस्तित्व बना हुआ है। वैसे ही राग-द्वेष रूपी ग्रंथियों का अस्तित्व आत्मा रूपी आधार पर ही है। यदि उन राग-द्वेष रूपी ग्रंथियों से

आत्मा को अलग कर लिया जाए तो राग-द्वेष रूपी ग्रंथियों को अस्तित्व नजर ही नहीं आएगा। अलाइयां हो जाने पर चमड़ी का शुद्ध रूप दृष्टिगत नहीं होता वहाँ अलाइयां ही अलाइयां दृष्टिगत हाती है वैसे ही हमने चित्त वृत्तियों में जो संस्कार, रोग पनपा रखे हैं वे ही हमारे दृष्टि का विषय बनती है, पर आत्मा का असली रूप हमारे से ओझल ही बना हुआ है।

१९९. श्रद्धा का तोल

०३ अक्टूबर १९९८, उदयपुर

आज श्रद्धा-समर्पणा को तोला जाने लगा है। उसकी कीमत आंकी जाने लगी है। दूसरे शब्दों में श्रद्धा-समर्पणा की कीमत वसूलने जैसे उपक्रम होने लगे तो सोचना लाजिमी है कि कीमत से यदि श्रद्धा-समर्पणा प्राप्त होती हो तो ऐसी श्रद्धा और समर्पणा यथार्थ श्रद्धा के रूप में तो स्थापित हो ही नहीं सकती। बल्कि उसका विकृत रूप 'ब्लैक मेल' की श्रेणी तक भी पहुँच सकता है। अतः श्रद्धा और समर्पणा के सच्चे स्वरूप की पहचान होनी चाहिए।

२००. समाधि का आह्लाद

०८ अक्टूबर १९९८ उदयपुर

बाहर के आवागमन के कारण उनसे सम्पर्क में जितना समय जाता है वह चिंतनीय है। यद्यपि उससे उनके श्रद्धा भाव को बढ़ावा मिलता है पर स्वयं की साधना में व्यवधान भी पड़ता है। आत्म-समाधि के कुछ क्षण भी जब अह्लादकारी सिद्ध होते हैं तो लम्बा समय आत्म-समाधिस्थता का प्राप्त हो तो उस अवस्था का तो कहना ही क्या।

२०१. प्रवाह.. प्रवाह... प्रवाह....

०९ अक्टूबर १९९८, उदयपुर

जहाँ चित्त वृत्तियों के फैलाव का प्रसंग बनता है वहाँ उलझने झंझटें खड़ी होती है, समस्याएँ पनपने लगती है। किन्तु जैसे ही चित्तवृत्तियों का संकोचन होता है। आत्मा के निजत्व का बोध होता है वैसे ही सारी उलझने

तिरोहित हो जाती है। वे क्षण ऐसे होते हैं जिसमें कोई उलझन नहीं, कोई व्यवधान नहीं मात्र प्रवाह-प्रवाह-प्रवाह। उस प्रवाह के अन्तरनाद में झूम उठता है-“निजात्म” वस्तुतः वह निजानन्द है, वस्तुगत आनन्द नहीं!

२०२. भयमुक्ति बनाम भय-अस्पर्श

१६ अक्टूबर १९९८, उदयपुर

भय मुक्त होना एक बात है पर भय का स्पर्श नहीं होने की बात उससे भिन्न है। भय से मुक्त दुःसाहसी भी हो सकता है। वह रावण और कंस का साथी भी हो सकता है। भयमुक्त व्यक्ति विकराल भी बन सकता है, पर भय का स्पर्श ही न हो यह अवस्था अध्यात्म से घटित होती है। अध्यात्म सहज होता है। उसे -भय मुक्ति के लिए अनुष्ठान नहीं करने होते । भय-मुक्ति का अनुष्ठान भीतर गहरे में भय की उपस्थिति दर्ज कराता है। किन्तु अध्यात्म में भय का अनुभव ही नहीं होता वहाँ तो हर अवस्था में चित्त का समत्व निष्पन्न होता है। अतः भय मुक्त बनने के बजाय हमारी आन्तरिकता ऐसी बने कि वहाँ भय का स्पर्श ही नहीं हो।

२०३. श्लेष

२० अक्टूबर १९९८, उदयपुर

चिपकने के लिए श्लेषरूप पदार्थ की आवश्यकता होती है। कभी वह श्लेष जुड़ने वाले दोनों पदार्थों में पाई जाती है तो कभी-कभी एक पदार्थ में भी। संसार के प्राणियों में परस्पर प्रेम स्नेह देखा जाता है। वहाँ अधिकांश उभय पक्ष श्लेष युक्त होते हैं। पर कहीं-कहीं इसके विपरीत भी होता है। एक पक्ष पूर्णतया श्लेष रहित व दूसरा पक्ष श्लेष युक्त।

लिफाफे को बन्द करने वाले भाग पर श्लेष द्रव्य होता है। जबकि जहाँ उसे चिपकना है, वहाँ श्लेष नहीं होता फिर भी वह उससे चिपकता है। वैसे ही वीतराग भगवान्, महावीर श्लेष रहित थे, फिर भी गौतम स्वामी का श्लेष भगवान् महावीर से उनको जोड़ने वाला बन गया।

२०४. कामण हवा

२१ अक्टूबर १९९८ उदयपुर

वस्त्र यदि मैला कुचैला हो तो कामण हवा के चलने से उसमें शीलन आ जाती है व वायुमण्डल में व्याप्त रज उस वस्त्र से चिपक जाती है। इसी तरह जिस आत्मा में पहले से कर्म रूपी मैल जमा हो तो अशुभ योग रूपी कामण वात चलने से कार्मण वर्गणा के पुद्गल उस आत्मा से संयुक्त हो जाते हैं।

२०५. 'संकेत'

२५-१०-१९९८, उदयपुर

साधना के क्षणों में संकेत मिला कि तुम्हारे ईर्द-गिर्द चापलूस लोग भी हैं। सावधान रहना। साथ में यह भी संकेत मिला कि सम्प्रदाय में अयतना का भी प्रवेश हो रहा है।

२/३ दिन पूर्व भी कुछ संकेत प्राप्त हुआ था। उस समय उस का अर्थ समझ में नहीं आ पाया पर अनुसंधान से उसका संदर्भ उलझी हुई अवस्था का प्रतीक लगा।

२०६. अन्तर में जागृत रहो

३० अक्टूबर १९९८, उदयपुर

आचार्य देव (श्री नानालालजी म.सा.) का जीवन साधकों के लिए आदर्श प्रतीक है। इस वृद्धावस्था व बीमारी की अवस्था में भी कई बार ऐसे अनुभव होते हैं कि संयमी जीवन के प्रति कैसी जागृति है। ऊपर-ऊपर से देखने वाला उनके अन्तर-जगत की थाह नहीं पा सकता। गहरा व निकट सम्पर्क वाला व्यक्ति ही उनके साधनामय जीवन की थाह का कुछ अनुभव कर सकता है। आचार्य देव के जीवन से साधना का सूत्र मिलता है कि अन्तर में जागृत रहो। इस मूल मंत्र को जो भी साध ले उसका जीवन आध्यात्मिक आलोक से जगमगा उठेगा इसमें कोई संशय नहीं!

२०७. निशान्त-प्रतीक और अर्जित

१ नवम्बर १९९८, उदयपुर

निशान्त (मोहरूपी अन्धेरी रात का अन्त = सम्यक्त्व) और प्रतीक (आत्मा के अस्तित्व का बोध=ज्ञान) में दोस्ती है मित्रता है। अर्जित (कर्म) को इन दोनों की दोस्ती फूटी नजर पसन्द नहीं। वह दोस्ती तुड़वाने का प्रयास करता है। वह 'प्रतीक' को कहता है 'निशान्त' कह रहा था कि प्रतीक तो मेरे टुकड़ों पर पलता है। इस प्रकार वह तुम्हारे लिए इतनी हल्की भावना रखता है। पर प्रतीक उसकी बातों में नहीं आता वह कहता है कि निशान्त ऐसा कह नहीं सकता। अर्जित इधर से निराश होकर निशान्त को भड़काने का भी लगभग उसी तरह का प्रयत्न करता है पर निशान्त व प्रतीक में परस्पर तादात्म्य भाव होने से अर्जित को निराश ही होना पड़ा। निशान्त व प्रतीक की तरह आज भी यदि पारस्परिक विश्वास सद्भाव बना रहे तो वर्तमान अर्जितों का वश चल नहीं सकता !

२०८. "आचार्य श्री गलहार हैं।"

०५ नवम्बर १९९८, उदयपुर

आप यह मत सोचिये कि आचार्य श्री आप से दूर हो रहे हैं। यह तो एक कल्प मर्यादा है, व्यवहार है। हकीकत में आचार्य श्री आपके पास हैं।

आचार्य श्री जी का आज विहार हुआ। विहार का तात्पर्य वि= विशिष्ट + हार = गले का हार अर्थात् जिनवाणी रूप विशिष्ट हार आपको सौंप रहे हैं। आपने प्रेम और स्नेह के हार, विनय और वात्सल्य के हार को अपने गले में सुरक्षित रखा तो समझ लीजिए आचार्य श्री आपके गलहार बने हुए हैं।

२०९. पूँजी का मूल

०६ नवम्बर १९९८, उदयपुर

व्यक्ति पूँजी को महत्त्व देता है, पर पूँजी के मूल को नहीं देख रहा है। पूँजी का मूल कहाँ है? पूँजी के कुछ कारण बताए कि यथा किं वा दच्चा ? किं वा भुच्चा ? "किं वा समायरियत्ता ? कस्सवा समणस्स महाणस्स वा अंतिए

एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा ? इन कारणों से पूँजी-प्राप्त होती है। उक्त कारणों से अर्जित पूँजी को धर्म की पूँजी कहा जाता है। अतः पूँजी चाहिए तो निःस्वार्थ भाव से सुपात्र दान देना सीखें, भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रखें, आचरण को सही रखें व संत अथवा श्रावक के मुख से आर्य वचन श्रवण को तत्पर रहें।

२१०. भोजन-विवेक

०७ नवम्बर १९९८, उदयपुर

भगवान् महावीर ने साधुओं को भोजन विवेक बताया कि जैसे सर्प बिल में सीधा घुसता है वैसे ही मुँह में कवल इधर-उधर नहीं घूमाकर सीधे मुँह से नीचे गले में उतार लिया जाए। कभी हम विचार करेंगे कि यह बात कैसे कही गई ? क्या भोजन को बिना चबाए नीचे उतार लिया जाए ? नहीं । भगवान् का आशय यह नहीं है कि नहीं चबाया जाय। कथन का आशय यह है कि भोज्य पदार्थ को मुँह में इधर-उधर घुमाया नहीं जाय।

इस युग के अनुसंधानकर्त्ता भी यह मान रहे हैं कि भोजन को मुँह में दाएं से बाएं नहीं घुमाना चाहिए बल्कि एक तरफ से ही चबाकर नीचे उतारना चाहिए। स्वर विज्ञान की दृष्टि से दांयी तरफ से चर्वण क्रिया करके किया गया भोजन ऊष्ण-प्रकृति वाला बन जाता है, जो वातजन्य बीमारियों के लिए लाभदायी होता है। बाईं तरफ से किया गया भोजन शीत प्रकृति वाला होता है जो पित्तज बीमारियों के लिए लाभकारी होता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि बांया भाग उत्तरी ध्रुव व दांया भाग दक्षिणी ध्रुव है अतः दोनों तरफ चर्वण से उसमें जो विद्युतीय तरंगें बनती हैं। वे स्वास्थ्य के लिए अहितकर होती हैं!

भगवान् महावीर के सिद्धान्त से ये बातें संगत भी प्रतीत होती हैं। अन्यथा भगवान् सर्प के बिल में घुसने की तरह आहार कहने का कथन क्यों करते ? उक्त प्रकार से आहार करने से जिह्वा अपने विषय के प्रति भी अनुरक्त नहीं बन सकती बल्कि प्रस्तुत विधि से भोजन करते हुए निर्वेद भाव की पुष्टि हो सकेगी। जो साधना के लिए महत्त्वपूर्ण अंग है।

२११. योग निद्रा में प्रवेश

२८ अक्टूबर १९९९, उदयपुर

रात्रि १०.४० के लगभग आचार्य देव का संधारा सीझा संधारे की अवस्था व मृत्यु के क्षण अविस्मरणीय रहे। दिन में बैचेनी के क्षणों में जरूर कुछ विचार आया कि जिस महापुरुष ने सामान्य सी वेदना होने पर संतों का उपचार करवाते हुए साता पहुँचाने का लक्ष्य रखा। पर आज इस महापुरुष को इतनी वेदना झेलनी पड़ रही है। यदि ऐसे में एक दर्दनाशक इन्जेक्शन लगवा दिया जाए तो क्या हर्ज है? कुछ राहत तो मिल सकती है किन्तु दर्दनाशक संधारे की स्थिति से दिल को मजबूत करना पड़ा।

१०.४० के लगभग मानो किसी योगी ने योग निद्रा में प्रवेश पा लिया। उसके पश्चात् की स्थिति पर भी कुछ विचार बनते उभरते रहे।

उससे ऐसा अहसास हुआ कि प्रथम या दूसरे देवलोक में सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

आचार्य देव की पार्थिव देह को अन्ततोगत्वा वोसिराना पड़ा। आखिर कर भी क्या सकते हैं?

२१२. तूफान

३० अक्टूबर १९९९, उदयपुर

तूफान आया उड़ीसा में
विप्लव मचाया उसने
घर वाले बेघर हुए
ताण्डव नाच दिखाया उसने
तूफान आता है, निज दिल में
चढ़ी थी जो ऊचाइयाँ
थमे पाँव नहीं, उखड़ गए
उठे मिली तब खाइयाँ
तूफान है जीवन का विचलन
छँट-छँट जाता श्रद्धा बल
नीरस शुष्क काष्ठ ज्यों वन में
मानव मेदिनी में हर पल।

२१३. अन्तर की आवाज

०१ नवम्बर १९९९, उदयपुर

पिछले दिनों से जो चक्रव्यूह चल रहा है उससे अत्यन्त मानसिक व्यथा की स्थिति रही। एक तरफ जहाँ गम के आंसू भी सूख नहीं पाए वहीं दूसरी तरफ क्या कुछ परिस्थितियाँ प्रस्तुत हो रही हैं। मानसिक रूप से भारी दबाव के बीच भी आचार्य देव के श्री नानालालजी म.सा. वचन साहस और धैर्य बनाए रखने में सम्बलभूत है।

धर्म क्षेत्र में राजनीतिकरण की अवस्थाएं धर्म श्रद्धा को क्षीण करने जैसी है। साधना प्रवंचना मात्र बनकर रह जाए, इससे बढ़कर और दर्द की बात क्या हो सकती है ?

आत्म स्फूर्त :-हे आत्मन्! शुद्ध भाव से चिंतन करना है। न तो किसी के दबाव में आना है और न ही किसी के बहाव में। अन्तर की जो आवाज हो उसी के सहारे तुम्हें अपने कदम बढ़ाने हैं। आचार्य देव के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ उन्होंने अन्तर की आवाज को ही महत्त्व दिया है। एकाध जगह जहाँ अन्तर की आवाज को गौण किया वहाँ उस प्रसंग का उन्हें पश्चाताप भी रहा। अतः तुम्हें अन्तर की आवाज को ही मुख्यता देना है!

२१४. कदम बढ़ाते चल

०२ नवम्बर १९९९, उदयपुर

कफन सिर पर बाँध लिया है
फिर राही घबराना क्या ?
दिशाओं को जब बांध लिया तो
झटकों से घबराना क्या ?
कदम बढ़ाते चल राही
कदम बढ़ाते चल
आज नहीं तो कल मिलेगी
रुकना नहीं क्षण पल
यदि जिगर मजबूत तेरा
तो रख धीरज खास

संकट के बादल नहीं टिकते
छंट जाते हो होकर पास
भेड़ चाल है इस दुनिया की
पडे कूप के मांय
सम्मुख खड़ा हँसे गड़रिया
पानी लागी लाय
दुनिया के इस मेल में
बहुतों ने गोते खाए हैं।
भँवर बीच में पड़कर भी
विरले ही बचकर आए हैं।।

२१५. साधक!

०३ नवम्बर १९९९, उदयपुर

साधक !

तुम्हारी साधना, प्रदर्शन नहीं, जीवन का दर्शन हो
तुम्हारी श्रद्धा का कोई माप न हो, अमाप हो
तुम्हारी सेवा का कोई मोल न हो, अमोल हो
तुम्हारे विनय की कोई सीमा न हो, असीम हो
तेरी उपासना की निष्पत्ति साकार नहीं, निराकार हो ।
पूजा दृश्य जीवन की नहीं अदृश्य अलौकिक जीवन की हो।
गीत गाओं, पर किसके ? वीतरागता के।
गीत गाओ पर किस लिए ? यह विकल्प ही पैदा न हो।
आकांक्षा रहित किया गया तप जप नियम सेवा भक्ति
आत्म-कल्याण की दिशा में
आगे बढ़ा सकती हैं।

२१६. हलचल

०६ नवम्बर १९९९, उदयपुर

परिस्थितियों के कारण मानसिक स्थिति में उतार-चढ़ाव बन जाना सहज प्रवृत्ति हो सकती है, किन्तु अन्तर में उससे कैसे निर्लिप्त रहना यह महत्त्वपूर्ण है। समुद्र के उपरी स्तर पर तरंगे परिलक्षित होती हैं किन्तु अन्दर में अवस्था शान्त होती है। वैसे ही मानसिक स्तर पर कभी हल चल हो भी जाए तो अन्तर में उस हलचल को आश्रय नहीं देना चाहिए।

२१७. मान-अपमान

७ नवम्बर १९९९, उदयपुर

निन्दा और प्रशंसा में सम रहना बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। किन्तु व्यवहार इससे विपरीत देखा जाता है। व्यक्ति निन्दा में खिन्न हो जाता है, प्रशंसा में फूल जाता है, इसका कारण क्या? एक कारण तो यह है कि व्यक्ति अभी तक उस स्टेज पर पहुँचा ही नहीं है। जो जिस स्टेज तक पहुँच नहीं जाता उसे वहाँ का अनुभव कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं होता। दूसरी बात है अभी व्यक्ति ने अपने भीतर ग्रंथियाँ बना रखी हैं। उन ग्रंथियों से अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में जो स्राव होता उसी के आधार पर व्यक्ति स्वयं का मान-अपमान मान लेता है। इसलिए आवश्यकता है पहले उन ग्रंथियों के विमोचन की। जब तक वे ग्रंथियाँ बनी रहेगी तब तक व्यक्ति यथा प्रसंग स्वयं को मान-अपमान की स्थितियों से संयोजित करता रहेगा। अतः साधक को अत्यन्त सतर्कतापूर्वक उन ग्रंथियों को निर्मूल करने में प्रयत्नशील होना चाहिए!

२१८. धार्मिक व्यक्ति को कष्ट क्यों?

दि. ०८.११.९९ उदयपुर

जीवन में आने वाले सुख-दुख का कारण पुण्य और पाप है! धर्म नहीं। कभी-कभी हम सोच लेते हैं, कि धार्मिक व्यक्ति को कष्ट क्यों आ रहा है उसे तो पूर्ण सुखी रहना चाहिए। इस पर चिंतन करना है कि भौतिक सुख-सम्पदा धर्म से नहीं पुण्य से प्राप्त होती है। धर्म आत्म-बोध रूप व्यापार होता है। पुण्य-पाप दोनों छूटने वाले हैं। किन्तु धर्म, वह तो आत्मा के साथ रमा हुआ है। वह

कभी अलग हो नहीं सकता। कष्ट के समय भी महापुरुष तितिक्षा बनाए रखते हैं। धैर्य बना रहता है, कष्ट से घबराते नहीं है। सुख-दुःख में समभाव रखते हैं। ऐसा जो होता है, वह धर्म से होता है। बिना धर्म के व्यक्ति कष्ट में हाथ विलाप करने लगता है तो सुख में फूला-फूला फिरता है। अतः धार्मिक व्यक्ति पर कष्ट आते हों तो उसे धर्म के साथ नहीं जोड़ना चाहिए, अपितु सोचना चाहिए कि यह पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का फल है। इनका फल भोग तो करना ही होता है।

२१९. स्वाध्याय से निर्विष

०९ नवम्बर १९९९, उदयपुर

यह अनुभूत विषय है कि स्वाध्याय से मानसिक विकार शांत होते हैं। चित्तवृत्तियों में निर्वेद भाव का संचार होता है। साता और सुख की आकांक्षाएं तिरोहित होती हैं।

मंत्रवादी के मंत्र प्रयोग से जैसे सविष अवस्था निर्विष में परिणत हो जाती है वैसे ही स्वाध्याय से वैकारिक विष से सन्तप्त मानस निर्विष अवस्था को प्राप्त होता है। अतः स्वाध्याय से निरन्तर मन को भावित करते रहना चाहिए। निरन्तर स्वाध्याय करते रहने से व्यंजनलब्धि भी प्राप्त हो सकती है। जिससे भवान्तर में भी सुलभ बोधि बना जा सकता है। इसलिए साधक को स्वाध्याय में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

२२०. संयोग – वियोग

१० नवम्बर १९९९, उदयपुर

संयोग और वियोग जीवन के साथ जुड़े रहते हैं। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग की विभीषिका बनी रहती है। अनुकूल संयोग से व्यक्ति तृप्ति का अनुभव करता है किन्तु यह नहीं सोचता कि यही तृप्ति एक दिन उसे रूलाने वाली भी बन सकती है। अतः संयोग में हर्ष व वियोग में गम नहीं करते हुए आत्मभाव में स्थित रहने वाला साधक ही आत्मानन्द का अनुभव कर सकता है!

२२१. आग में घी

१२ नवम्बर १९९९, उदयपुर

आक्रोश में व्यक्ति स्वयं में नहीं रहता। उस समय वह विवेक विकल होता है। उस समय उस विवेक विकलता को बढ़ाने वाला निमित्त मिल जाए तो फिर कहना ही क्या? फिर तो ज्यू बंदर मदिरा पियाँ बिच्छू डंकित गात जैसी स्थिति बन जाती है। विवेक विकल के विवेक को जागृत कराने वाले व्यक्ति विरले होते हैं। आग में घी डालने वालों की कमी नहीं है। जब तक व्यक्ति की यह प्रवृत्ति रूपान्तरित नहीं हो जाती तब तक आत्म कल्याण अथवा धार्मिक हो पाना कठिन ही नहीं, दुष्कर है।

२२२. स्वार्थी

१३ नवम्बर १९९९, उदयपुर

स्वार्थी व्यक्ति समष्टि का हित नहीं सोच सकता। कभी-कभी उसके कार्य से लगता है कि वह समष्टि का बहुत हितैषी है। समष्टि के लिए ही उसने अपना जीवन कुर्बान कर दिया है किन्तु हकीकत कुछ और ही होती है। अभी जीव श्रमण जीवन अपनाकर कठोर साधना भी करता है तो स्वार्थ के लिए। सुख-सम्पदा के लिए न कि आत्म-कल्याण के लिए। वैसे ही स्वार्थी की क्रियाएँ भले समष्टि के लिए हितपरक लगे किन्तु उनमें उसका अपना स्वार्थ निहित होता है। जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, अथवा स्वार्थ / सिद्ध होने की संभावना दिखती है तब तक उसकी वे क्रियाएँ हो सकती हैं। यदि स्वार्थ की संभावनाएं क्षीण हो जाए तो ऐसे व्यक्तियों को रुख बदलते देर नहीं लगती। अतः ऐसे व्यक्तियों से सदा सावधान रहने की आवश्यकता है।

२२३. पद से निरपेक्ष भाव

१६ नवम्बर १९९९, उदयपुर

गुरुतर भार वहन करने में कभी पीछे नहीं हटूँ। किन्तु पद को अपने साथ जुड़ने भी नहीं दूँ, अर्थात् पद मेरे लिए ग्रंथि का रूप नहीं बने। मूर्च्छा का रूप नहीं बने। एतदर्थ सतत् सावधान रहना आवश्यक है। जब भी यह पद ग्रन्थि

का रूप बन गया तो समझ लो साधनामय जीवन का वहीं से हास प्रारम्भ हो गया। पद को एक व्यवस्था मात्र समझकर चलना है। पद को अपने साथ जुड़ने नहीं दूँ इसका यह अर्थ कतई नहीं कि दायित्व से मुकरा जा रहा है। दायित्व के प्रति सदैव तत्पर रहा जाए किन्तु उसके बावजूद पद से निरपेक्ष भाव रहे।

२२४. दो आत्मिक गुण

१६ नवम्बर १९९९, उदयपुर

आने वाली हर स्थिति, परिस्थिति के लिए व्यक्ति को सदैव तैयार रहना चाहिए। कभी भी स्वयं को विचलित नहीं होने देना चाहिए। हिम्मत और धैर्य ये दो ऐसे आत्मिक गुण हैं जो व्यक्ति को हर स्थिति, परिस्थिति से उबार सकते हैं। यदि व्यक्ति हिम्मत हार गया तो मान लो वह अपने कार्य क्षेत्र में सफलता को प्राप्त कर ही नहीं सकता। पुण्यवानी से सफलता मिल जाए तो बात अलग है किन्तु अल्प सत्वशाली व्यक्तियों द्वारा सफलता को पचा पाना भी दुरुह कार्य है। अतः स्थिति परिस्थिति की परवाह मत करो। देखो, तुम्हारे जिगर में बल कितना है, हिम्मत कितनी है। कहीं तुम्हारा साहस व धैर्य तुम्हें जवाब तो नहीं दे रहा है। यदि नहीं तो फिर किसी भी स्थिति-परिस्थिति से चिंतित होने की कोई बात ही नहीं है।

२२५. विश्वास में ही विश्वासघात

१८ नवम्बर १९९९, उदयपुर

यदि किसी पर विश्वास किया है, करते हो तो विश्वासघात से कभी मत घबराना, क्योंकि जहाँ विश्वास होगा विश्वासघात वहीं हो सकता है जहाँ विश्वास ही नहीं वहाँ विश्वासघात का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यह कभी मत समझो कि जहाँ-जहाँ विश्वास किया जाता है, वहाँ-वहाँ विश्वासघात होता ही है, इसमें भ्रम (कभी होना, कभी नहीं होना) है पर यह निश्चित है कि जहाँ विश्वासघात होता है वहाँ-वहाँ विश्वास अवश्य होता है, इसलिए किसी पर विश्वास किया ही नहीं जाय। यदि ऐसा सोचा जाय तो जो व्यवहार चल रहा है, वह कभी चल ही नहीं सकता। व्यवहार का उच्छेद हो जाएगा। व्यवहार में विश्वास किया भी जाता है। कहीं-कहीं उसमें विश्वासघात भी होता है। अतः विश्वासघात जैसे प्रसंग पर व्यक्ति को अन्यथा नहीं सोचकर स्वयं को शांत रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

२२६. शीतल बयार

१९ नवम्बर १९९९, उदयपुर

संयत अवस्था में भी काम, क्रोध की भावना उभरती रहती है। ईर्ष्या-डाह के भावों का आरोह-अवरोह होते रहते हैं। वस्तुतः जब तक श्रमादि दशविध यति धर्म की आराधना नहीं हो जाती तब तक संयमी जीवन का आनन्द नहीं आ सकता। मात्र पुस्तकीय ज्ञान आत्मा को शांति नहीं पहुँचा सकता। क्षमादि का संचार ही आत्मा को शीतल बयार दे सकता है। अनादिकालीन सन्तस आत्मा उसी से शांति को श्वास ले सकती है। अतः साधना को समुत्सुक साधक क्षमादि धर्मों को अपने भीतर प्रगट करें।

२२७. उपदेश से कठिन है आचरण

२० नवम्बर १९९९, उदयपुर

उपदेश जितना सरल है आचरण उससे कई गुना कठिन है। हम दूसरों को उपदेश देते हैं कि संसार धर्मशाला का संबंध है, जाने वाली आत्मा वापस नहीं आ सकती आदि। किन्तु स्वयं के साथ जब स्थिति घटित हो रही है तब लगता है कि वस्तुतः उपदेश से आचरण बहुत कठिन है। यद्यपि अभी भी संत/सती वर्ग को धैर्य रखने हेतु पत्र लिखवाए हैं, किन्तु आचार्य देव श्री नानालाल की म. सा. की स्मृतियाँ पुनः-पुनः रूलाई लाने वाली बन जाती है। आज जैसे ही मालदास सेरी में घुसे कि उदयपुर प्रवेश के समय का वह दृश्य स्मृति में उभरा और गुरुदेव की स्मृति में आंखें कुछ क्षणों के लिए बन्द हो गईं मन खो गया। पौषधशाला से पुनः उस स्कूल में जहा आचार्य देव प्रवेश के पूर्व दिन विराजे थे मात्र आचार्य देव के कपड़े बदलाने के लिए जाना पड़ा था। (जहाँ आचार्य देव प्रवेश के पूर्व दिन विराजे थे)

अनेक बार रात्रि को जब नींद उचट जाती है या यों कहूँ कि प्रायः उचट जाती है तो फिर मन उन्हीं महापुरुष में खो जाता है। पर बस अब तो केवल यादें ही रह गई हैं। देह पिण्ड सदा अमर नहीं होता किन्तु मन फिर भी नादानी कर बैठता है। चाहता है सदैव उस विभूति का साया मिलता रहे।

२२८. सदा सावधान

२१ नवम्बर १९९९, उदयपुर

अपनी धार्मिक, सतह का चिंतन करो। धार्मिकता की ओट में छल, प्रपंच, दम्भ नहीं पनपने चाहिए। ये दुर्गुण जहाँ जिस समय होते हैं उस समय यथार्थ में हम अपने में नहीं हो पाते। धार्मिकता के लिए पहली शर्त है सरलता, ऋजुता। यदि सरलता नहीं हो तो तप-त्याग, नियम-व्रत की आराधना कैसे संभव हो पाएगी। कैसे आत्मा संकल्प और विकल्प से ऊपर उठ पाएगी ?

अतः हे आत्मन्! निरन्तर स्वयं को देख कि कहीं भी छल छद्म की अवस्थाएं अंकुरित न होने पाए। “अन्तर में कुछ और, मंच पर विश्व मैत्री के गान” की हरकत नहीं होनी चाहिए। दुनिया को देखकर शिक्षा लो। दुनियावी लोगों पर करुणा का स्रोत बहे। छली-दम्भी व्यक्तियों के प्रति भी द्वेष भाव नहीं जगे इसके लिए सदा सावधान।

२२९. चातुर्मासिक मर्यादा की पृष्ठभूमि

२२ नवम्बर १९९९, उदयपुर

चातुर्मास एक मर्यादा है, कल्प है। ऊपरी तौर पर अनेक प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं कि साधु को एक स्थान पर इतना क्यों रुकना ? अधिक गांवों में भ्रमण करने पर अधिक जनसम्पर्क होगा। अधिक लोग धर्म के प्रति अग्रसर होंगे। इनके अतिरिक्त अन्य भी कई प्रश्न उठते हैं इनका समाधान मात्र तर्क से संभव नहीं है। कल्प/मर्यादा आदि का संबंध भावनात्मक है। उसके मूल में अहिंसा की प्रतिष्ठा है जीवदया साधना का प्रमुख अंग है। चातुर्मासिक मर्यादा में वही पृष्ठभूमि है।

२३०. विशेष हार

२३ नवम्बर १९९९, उदयपुर

हार से शोभा बढ़ती भी है और हार से व्यक्ति नर्वस भी होता है। एक हार जब गले में पड़ता है तो व्यक्ति का चेहरा चमकने लगता है, वहीं पराजय रूपी ‘हार’ का सामना करना बड़ा कठिन हो जाता है। गले में पड़ने वाले हार भी

सामान्य व विशेष होते हैं। सामान्य हार की बजाय यदि विशेष हार गले में हो तो फिर कहना ही क्या? 'विहार' जो संतों को चातुर्मास उठने के पश्चात् करना होता है संत तो विहार करते हैं। किन्तु यदि उनसे त्याग-तप, नियम रूपी विशेष हार स्वीकार कर लिया जाता है तो शरीर नहीं आत्मा विशेष रूप से शोभायमान हो सकती है।

२३१. उतरा है या नहीं

२४ नवम्बर १९९९, उदयपुर

हम धर्म की बात अवश्य करते हैं किन्तु आचरण 'नैतिकता' का धरातल भी स्पर्श कर पा रहा है या नहीं? यदि वहाँ नैतिकता नहीं है, कथनी-करनी में एकरूपता नहीं है तो उस धार्मिक जीवन से कल्याण कैसे हो सकता है? अतः धर्म की बात करने के पूर्व एक क्षण सोचें कि जिस धर्म की बात कर रहा हूँ वस्तुतः मेरे अन्तर में वह उतरा है या नहीं।

२३२. धर्म की मखौल

०५ दिसम्बर १९९९, सेक्टर - ४ उदयपुर

हम धर्म की आराधना कर रहे हैं या धर्म की मखौल उड़ा रहे हैं? यह निर्णय अन्तर से लेना आवश्यक है। ऊपरी तौर पर हम धार्मिक नजर आते हैं किन्तु हमारा व्यवहार आचरण वह धर्म के कितना अनुकूल है? ऊपरी तौर पर धार्मिक होना, धर्म का मुखौटा मात्र हो सकता है। यथार्थ में धर्म का स्पर्श नहीं हो सकता। मुखौटा हटा नहीं कि असली रूप प्रगट हो जाता है। अतः मुखौटा रूपी धार्मिक जीवन से हम स्वयं को ऊपर उठाकर जीवन में धर्म का रस प्राप्त करने का प्रयत्न करें। मुखौटा पहन कर धर्म की मखौल नहीं करे।

२३३. संस्कारित जीवन

०८ नवम्बर १९९९, सेक्टर- ४, उदयपुर

व्यावहारिक धरातल पर जो सामाजिक रीति-नीति आदि की पालना करे उसे संस्कारित कहा जाता है। जैसे-कैसे बैठना, कैसे उठना, कैसे बोलना, कैसे खाना आदि। एक व्यक्ति का उठना बैठना आदि सही ढंग से नहीं हो तो उसका आचरण असंस्कारित कह दिया जाता है। अतः सभ्यतापूर्वक जिसका आचरण हो वह संस्कारित कहलाता है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से संस्कारित-असंस्कारित का संबन्ध आन्तरिकता से है। अन्तर कितना सरल व शुद्ध है? आन्तरिक सरलता से जो आचरण होगा वह संयत रूप से, यतनापूर्वक होगा। आध्यात्मिक दृष्टि से वह संस्कारित जीवन है उससे विपरीत ऊपरी सभ्यता जितनी भी हो पर अन्तर में सरलता न हो, वक्रता हो कषाय हो तो वह असंस्कारित है।

२३४. सच्चा संदेश

०९ दिसम्बर १९९९, सेक्टर ४, उदयपुर

इक्कीसवीं सदी के सब्जबाग दिखाकर यदि कोई कहे कि आधुनिक साधनों का प्रयोग कर धर्म का प्रचार-प्रसार होना चाहिए, अन्यथा हम पिछड़ जाएंगे तो ऐसी बातों में साधक को रूचि नहीं लेना चाहिए। पहले जीवन है, प्रचार नहीं। जीवन ही यदि सुरक्षित नहीं हो तो प्रचार क्या हो पाएगा ? अतः इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करना हो तो शुद्ध सात्विक, संयत जीवन के रूप में हमारी प्रविष्टि हो। जो पूरी सदी को ही नहीं, सहस्राब्दियों को जीवन के मूल्यों के प्रति जागरूक रहने का संदेश दे सके। जीवन के मूल्यों को खोकर मात्र प्रचार-प्रसार से कभी भी सच्चा संदेश जनता को नहीं मिल सकता।

२३५. मृगमरीचिका

१०-१२-१९९९, गादियावास

साधना शील व्यक्ति भी जब सुविधाओं की गवेषणा में संलग्न हो जाता है, उसमें सुविधा की चाह जागृत हो जाती है। तब साधना का न्हास वहीं से प्रारंभ हो जाता है। प्रारंभिक न्हास बहुत मन्थर गति से होता है। जिसे साधक जान ही

नहीं पाता की मेरी साधना में न्यूनता आने लगी है। किन्तु जब वह सुविधा की कुछ यात्रा तय कर लेता है तो उसे ज्ञात हो पाता है कि मैं अपनी साधना से कितना विचलित हो गया हूँ। मेरी साधना कितनी मन्द पड गयी है। अतः साधक को सुख-सुविधाओं की मृग मरीचिका से सदा सावधान रहना चाहिये।

२३६. विचारों की भाप

११ दिसम्बर १९९९, मोगराबाड़ी, उदयपुर

साधना के क्षणों में सहसा आचार्य देव के दर्शन हुए। ज्योति स्फुलिंग से कुछ संकेत भी मिला। उसका अर्थ यह लिया गया "उत्तर-पूर्व-दक्षिण।"

विचारों की भाप इतनी सघन होती है कि हम अन्तर तक पहुँच पाने में प्रायः समर्थ नहीं हो पाते। अन्तर की थाह पाने हेतु विचारों की पर्त को दूर करना अनिवार्य है।

२३७. अणु की शक्ति

१२ दिसम्बर १९९९, सेक्टर ४, उदयपुर

अणु की शक्ति स्थूल से अधिक होती है यह वर्गणाओं के आधार पर जाना जा सकता है। औदारिक वर्गणा स्थूल होती है उससे भाषा वर्गणा सूक्ष्म व भाषा वर्गणा से मन वर्गणा और भी सूक्ष्म होती है। औदारिक शरीर से कर्म बन्ध जिस स्थिति वाले होते हैं। उससे मन से बन्धने वाले कर्मों की स्थिति संख्यात गुणी हो सकती है अतः स्थूल से सूक्ष्म पदार्थ में विशेष शक्ति होती है। ऐसा समझा जाना चाहिए।

२३८. आत्म सुरक्षा का पथ्य

१३ दिसम्बर १९९९, सेक्टर ५ उदयपुर

भगवान महावीर का धर्म संकीर्णता नहीं सिखाता यद्यपि यह कहा जाता है कि अन्य दर्शनों से सम्पर्क मत करो, उससे आलाप संलाप मत करों। किन्तु यह संकीर्णता या कायरता नहीं अपितु आत्म सुरक्षा का कवच है। क्योंकि हमारी अनादिकालीन वृत्तियां पांच इन्द्रिय विषयों के प्रति आकर्षित रही हैं उस

आकर्षण के कारण परमार्थ के प्रति पूर्ण दृढ़ता का अभाव रहता है। उस स्थिति में मस्तिष्क में शंका आदि का कचरा भर जाय तो परमार्थ का मार्ग ही अवरूद्ध हो सकता है। इसलिए परमार्थ के प्रति जो जागृति बनी है वह सतत, गतिशील बनी रहे इसके लिए सम्यकत्व से च्युत लोगों से व कुदर्शनियों से बचाव रखने के लिए कहा गया है। जैसे बीमार के लिए पथ्य बताया जाता है वैसे ही आत्म सुरक्षा के लिए उक्त पथ्य है अतः उसे उसी भाव से ही स्वीकार करना चाहिए।

२३९. लोकैषणा (प्रशंसा प्राप्त करने की इच्छा)

२५ दिसम्बर १९९९, नाई

लोकैषणा के भाव अत्यन्त गहराई में जमे होते हैं उसके लिए मानसिक दाव-पेंच भिन्न-भिन्न रूप में उभरते रहते हैं। मुंह से व्यक्त करने का व्यक्ति सहसा साहस नहीं कर पाता और न ही उसे पचा पाता है। वह गले में फांस की तरह अटक जाती है। इसलिए साधक को कभी भी लोकैषणा के भाव अपने भीतर नहीं जमने देना चाहिए।

२४०. स्वार्थी का अन्तर्भाव

१९ अप्रैल २०००, फलौदी

स्वार्थी किसे कहा जाए? उसकी पहचान क्या है? क्योंकि दो हाथ, दो पांव आदि मनुष्य तन के जो अवयव हैं उनमें स्वार्थी के अवयव कम होते हो और निःस्वार्थी के अधिक होते हैं ऐसा तो संभव नहीं है। फिर कैसे पहचान हो कि अमुक व्यक्ति स्वार्थी है।

वस्तुतः अवयवों के आधार पर स्वार्थी और निस्वार्थी की पहचान नहीं हो सकती। स्वार्थी की पहचान उसके अन्तर भावों से संभव है जो दूसरों से अपेक्षा रखता हो वह किसी न किसी अंश में स्वार्थी है।

२४१. अनुभव निःशब्द होता है।

२० अप्रैल २०००, फलौदी

शब्दों की तीक्ष्ण छैनी से अकाट्य तर्कों से हम, आत्म तत्त्व को सिद्ध कर सकते हैं, किन्तु जरूरी नहीं कि हम उसका अनुभव कर लें। अनुभव का क्षेत्र भिन्न है। शब्दों से उसका सम्बन्ध नहीं होता। अनुभव अशब्द किंवा निःशब्द होता है ? अनुभूत विषय को शब्द द्वारा पूर्ण रूप से व्यक्त कर पाना अथवा दूसरों को अपनी अनुभूति से अवगत करा पाना अशक्य है। शब्द से हम अनुभूति का आभास मात्र ही करा सकते हैं। इसलिए साधक को अनुभूति की अतल गहराइयों में गोते लगाना चाहिए। शब्दिक आडम्बर में नहीं उलझना चाहिये।

२४२. अशान्ति का मूल

२१ अप्रैल २०००, फलौदी

अशान्ति से नफरत क्यों? अशान्ति का मूल आधार क्या है? अशान्ति तो एक प्रकार से छाया मात्र है। उसका मूल आधार तो महत्त्वाकांक्षा है। महत्त्वाकांक्षा के कारण ही व्यक्ति अशान्ति के झूले में झूल रहा है। महत्त्वाकांक्षा वह विष बेल है जिसका फल अशांति है। जब तक उस विष बेल को पाला जाएगा तब तक अशांति दूर नहीं हो सकती। यद्यपि महत्त्वाकांक्षा में व्यक्ति को लगता ऐसा है कि उससे मुझे शांति मिलेगी। किन्तु यह उसका भ्रम है। महत्त्वाकांक्षा और शान्ति दोनों की दिशाएं भिन्न हैं। जबकि अशान्ति और महत्त्वाकांक्षा को कार्यकारण भाव कह सकते हैं। यदि यह कह दिया जाय कि जहाँ महत्त्वाकांक्षा है वहाँ अशान्ति है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसलिए यदि अशांति नहीं चाहते हों तो महत्त्वाकांक्षा को अपने भीतर पैदा मत होने दो।

२४३. सुख और दुःख

२२ अप्रैल २०००, फलौदी

सुख और दुःख मन की छाया है। हम अपने मन को जिस अनुकूल अवस्था में लगा लेते हैं उसे सुख मान लेते हैं, जिसे अमनोज्ञ बना लेते हैं। वहीं

दुःख का वेदन करने लगते हैं। यदि मन समभाव में स्थित हो जाए तो सुख दुःख की छाया भी समाप्त हो जाएगी। उस अवस्था में हमारे साथ कोई कैसा भी व्यवहार करे, हम घृणा या नफरत अथवा प्रेम-स्नेह से अछूते रहेंगे, क्योंकि हमारे मन ने उस व्यवहार का स्वाद ही नहीं लिया। अतः दुःख से छुटकारा पाना हो तो घटनाओं-अवस्थाओं को मन से स्पर्श नहीं होने दें। क्योंकि मन में जिसकी पकड़ हो जाती है वहीं से सुख दुःख की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

२४४. आत्मवीर

२५ अप्रैल २०००, लोहावट-जाटावास

सामायिक पौषध करके धर्मवीर बना जा सकता है, दान पुण्य करके दानवीर भी बना जा सकता है। युद्ध में शत्रुओं के दांत खट्टे करके युद्ध वीर भी बना जा सकता है। कई प्रकार के कर्म करके कर्म वीर भी बना जा सकता है। किन्तु आत्मा के अशुभ अध्यवसायों पर विजय प्राप्त करने का पुरुषार्थ करके सच्चे मायने में आत्मवीर विरल व्यक्ति ही बन पाते हैं। भगवान ने बद्ध आत्मा को मुक्त करने वाले वीर को प्रशंसित कहा है। अतः आत्मा को बन्धन से मुक्त कर आत्म वीर बनने का लक्ष्य रखना चाहिए।

२४५. चाहत करे आहत

२६ अप्रैल २०००, लोहावट-विष्णावास

मानसिक खीज जीवन के सावन में पतझड़ का काम करती है। जीवन का आनन्द, शान्ति एक ही क्षण में काफूर हो जाती है। उस खीज का प्रभाव मात्र स्वयं तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि परिकर भी उससे सन्तप्त हो जाता है। मानसिक खीज की पैदाइश भीतरी किसी चाह से जुड़ी हुई होती है। चाहत की पूर्ति के अभाव में भीतर आहत हो जाता है। उसी आघात का परिणाम मानसिक खीज है। मानसिक खीज से बचने का सही उपाय है अपने भीतर किसी भी पदार्थ पद या बात की चाह को जमने नहीं दिया जाय। जब भीतर में चाहत ही नहीं तो उसके अभाव से आहत होने का भी कोई प्रसंग नहीं। अतः मानसिक खीज की समस्या का निराकरण है चाहत को पैदा न होने दें। यदि पैदा

हो जाए तो उसे गहरी जमने न दी जाए। ऐसा होने पर मानसिक खीज पैदा नहीं होगी।

२४६. स्वभावगत स्थिति

२९ अप्रैल २०००, लोहावट- विष्णावास

कुत्ते का स्वभाव होता है कि उसे पुचकारा जाए तो वह दुम हिलाता हुआ इर्द-गिर्द घूमता है और डण्डा दिखाओं तो भौंकने लगता है। वक्र स्वभाव वाले मनुष्यों का भी स्वभाव ठीक ऐसा ही होता है। उन्हें लाड़-लडाओ तब तक सब अच्छा है, किन्तु जैसे ही परुष, कठोर भाषा में शिक्षा दी जाए अथवा कुछ कहा जाए तो विपरीत प्रवृत्ति और बढ़ जाएगी। किन्तु विनय व सरल स्वभाव वाले मानव कठोर भाषा में कहे जाने के बावजूद उसे सही रूप में लेकर स्वयं को विनय भाव से ही प्रस्तुत करते हैं। वक्र स्वभाव वाला अपने स्वभाव के कारण स्वयं खेदित होता है साथ ही अन्यो को भी खेद उत्पन्न करने में तत्पर रहता है। जबकि सरल स्वभावी स्वयं अपने हाल में मस्त रहता है, और अपने सहवर्ती जनों को भी प्रमुदित करता है।

२४७. चाबी भरो तो चले

०३ मई २०००, लोहावट-विष्णावास

‘समय सूचक यंत्र’ जिसे घड़ी कहते हैं, वह चाबी से चलने वाली भी होती है, ऑटोमेटिक व सेल से चलने वाली भी होती है। आज सेल वाली घड़ी की प्रधानता है। कहना रहता है कि बार-बार चाबी भरने आदि की झंझट नहीं। इसलिए घड़ी सेल वाली चाहते हैं ताकि एक बार सेल लगा दिया तो फिर घड़ी चलती रहेगी। किन्तु देखा जाता है कि जीवन व्यवहार सेल की घड़ी की तरह नहीं चल रहा है। उसमें भी धार्मिक क्षेत्र में तो ओर भी नहीं, वहाँ तो अभी भी चाबी वाली घड़ी की तरह गति है। चाबी भरो तो चले, चाबी नहीं भरो तो बन्द। यह बड़ी गम्भीर बात है।

धर्म कार्य को अपना समझ कर उसे नियमित रूप से करना चाहिए। प्रेरणा मिलने पर करें यह विशेषता की बात नहीं है। विशेषता उसमें है कि धर्म कार्य आत्मसाक्षी से किया जाय। चाबी भरने की आवश्यकता न हो।

२४८. पूछ के पीछे फिसलन

६ मई २०००, लोहावट-विष्णावास

मनुष्य को पूँछ नहीं होती, किन्तु उसे पूछ बहुत प्यारी हैं। जहाँ पूछ हो जाए उसका दिल बाग-बाग हो जाता है। यदि पूछ नहीं हो तो मन हताश हो जाता है। कभी-कभी तो मन हताश ही नहीं हो जाता बल्कि उसमें विद्रोही भावनाएं भी व्याप्त होने लगती हैं और तो क्या संतों के प्रति रही हुई श्रद्धा-भक्ति भी पूछ के पीछे फिसल जाती है। यद्यपि यह एक बीमारी ही है किन्तु इस बीमारी को लोग जान-बूझकर पालते हैं। जान बूझकर कोई बीमारी पाले और उसके कारण फिसले तो कोई क्या कर सकता है।

२४९. शान्त सुधारस वर्षक

०७ मई २०००, लोहावट

संघ के आचार्य को चन्द्र की उपमा से उपमित किया गया है। चन्द्र तारामण्डल से शोभायमान होता है, अर्थात् चन्द्र ताराओं के साथ होता है। वैसे ही आचार्य साधु मण्डल की परिसम्पदा से युक्त होता है। इससे सहअस्तित्व का बोध मिलता है। चन्द्र का शीतल होना भी शायद सहअस्तित्व का एक अंग है। सूर्य में उष्णता है, इसलिए वह अकेला होता है। किन्तु चन्द्र ताराओं के साथ है और शांत सुधारस बरसाने वाला है। आचार्य भी अपने साधु मण्डल के साथ शान्त सुधारस का वर्षण करते हुए संघ में शोभायमान होते हैं। इसलिए उन्हें चन्द्र की उपमा दी गई है।

२५०. जीवन के लिए घातक

०८ मई २०००, (आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म.सा. की पुण्यतिथि)

वैशाख सुदी पंचमी लोहावट-विष्णावास

ज्ञान और ज्ञानी के गुणों को प्रकट करना उनके गुणों से अन्तर में आह्लाद भाव, प्रमोद भाव पैदा होना ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम में सहायक होता है। यदि हमें ज्ञानी बनना है तो ज्ञानी पुरुषों की संगत करें। उनके गुणों की तरफ हमारी निगाहें रहे। भूल करके भी उनमें अवगुण ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि जब दृष्टि अवगुणों की तरफ

होगी तो वह उसके ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध कराने वाली होगी और अनन्त आत्म-शान्ति की प्राप्ति में बाधक बनेगी। अतः ज्ञानीजनों के गुणों में निमग्न रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में जहाँ हम ज्ञानी पुरुष में नुक्स देखने लगते हैं तो समझना चाहिए उनके प्रति हमारी श्रद्धा, भक्ति में कहीं न्यूनता की स्थिति बन रही है जो हमारे जीवन के लिए घातक है।

२५१. अध्यवसाय रूपी फिटकरी

१० मई २०००, सीयाको की ढाणी

आटे-छाछ का पानी गाढ़ा था। श्री हेमगिरी जी बोले फिटकरी हो तो उससे पानी साफ हो सकता है। तब कहा गया फिटकरी से कचरा आदि साफ हो सकता है पर चिकास (चिकनाई) नहीं। उसी संदर्भ से चिंतन उभरा कि बिना चिकास वाले कर्मों को शुभ अध्यवसायों के माध्यम से दूर हटाकर आत्मा को विशुद्ध किया जा सकता है किन्तु कषायों की तीव्र चिकास से जो निकाचित कर्म बँधे हुए हैं उन्हें शुभ अध्यवसाय रूपी फिटकरी भी शुद्ध करने में समर्थ नहीं हो पाती।

२५२. भावना

१२ मई २०००, देसणोक

मनुष्य चाहे वह साधक भी क्यों न हो उसकी एक कमजोरी यह होती है कि वह दूसरे को अपने अनुसार ढालना चाहता है। वह चाहता है कि दूसरा व्यक्ति उसकी भावना को समझें और उसी के अनुसार प्रवृत्ति करें। वह चलाकर कहता भी नहीं कि तुम इस प्रकार से करो। यदि सामने वाला व्यक्ति कहे कि समझा नहीं, तो कहेगा "समझा नहीं"। यह तो स्वतः सोचने का विषय है आदि। यह निश्चित है कि व्यक्ति का अपना क्षयोपशम होता है उसी के आधार पर व्यक्ति समझने में समर्थ हो पाता है किन्तु फिर भी प्रायः व्यक्ति चाहते हैं कि दूसरा व्यक्ति उसकी भावना को समझें।


